1936 ई० में हिन्दी साहित्य

(एम० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध-छात्र
कमलेश कुमार वर्मा

शोध-निर्देशक
प्रो० मैनेजर पाण्डेय

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली -110067
2000

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI -110067, INDIA

Centre of Indian Languages

Dated : 13 July 2000

DECLARATION

I declare that the material in this Dissertation entitled ***"1936 MEIN HINDI SAHITYA"*** submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other University/Institution.

Kamlesh Kumar Verma
(KAMLESH KUMAR VERMA)
Name of the scholar

(PROF. MANAGER PANDEY)
Supervisor
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature &
Culture Studies
Jawaharlal Nehru University,
New Delhi - 110067

(PROF. NASEER AHMAD KHAN)
Chairperson
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature &
Culture Studies
Jawaharlal Nehru University,
New Delhi - 110067

समर्पण:

माँ बाबूजी

को,

जो मुझे किसी भी गंभीर काम के लायक नहीं समझती।

जो मुझ पर बहुत विश्वास करते हैं।

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

(भूमिका)

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी (i-iv)

अध्याय - एक

1936 ई० : परिवर्तनकामी चौथे दशक का केन्द्रीय वर्ष 1-29

अध्याय - दो

कविता 30-57

अध्याय - तीन

गद्य साहित्य 58-75

अध्याय - चार

आलोचनात्मक चेतना 76-96

उपसंहार

और अंत में..... 97-98

सहायक पुस्तकें और पत्रिकाएँ 99-106

भूमिका

हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी

'1936 ई० में हिन्दी साहित्य' विषय मेरे शोध-निर्देशक प्रो० मैनेजर पाण्डेय का सुझाया हुआ है। हिन्दी सहित्य के इतिहास के किसी खास वर्ष पर शायद अभी तक कोई शोध-कार्य नहीं हुआ है। इस विषय को निर्धारित करने में अंग्रेज़ी साहित्य से जुड़ी एक पुस्तक से सूत्र प्राप्त किया गया है। 1998 में James Chandler की पुस्तक छपी थी–'England in 1819: The Politics of Literary Culture and the Case of Romantic Historicism' (Chicago and London : The University of chicago Press)

इस पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि इसमें अंग्रेजी साहित्य के रोमैंटिक-युग के दौरान इंग्लैण्ड में बन रही साहित्य की संस्कृति और उसकी ऐतिहासिक भूमिका की छानबीन करने की कोशिश की गई है। **'England in 1819'** अंग्रेज़ी के महान् रोमैंटिक कवि शेली की एक कविता है, जिसमें 1819 जैसे वर्ष-विशेष के माध्यम से James Chandler ने उस दौर के साहित्य, संस्कृति और राजनीति का अंतर्विश्लेषण किया है। 'England in 1819' कविता को उद्धृत करना जरूरी समझता हूँ–

England in 1819

An old, mad, blind, despised, and dying king—
Princes, the dregs or their dull race, who flow
Through public scron-mud from a muddy spring;
Rulers who neither see, nor feel, nor know,
But leechlike to their fainting country cling,
Till they drop, blind in blood, without a blow;
A people starved and stabbed in the untilled field—
An army, which liberticide and prey
Makes as a two-edged sword to all who wield;
Golden and sanguine laws which tempt and slay;
Religion Christless, Godless-a book sealed;
A senate—Time's worst statute unrepealed—

Are graves, from which a glorious Phantom may
Burst, to illumine our tempestuous day.

PERCY BYSSHE SHELLEY

1936 हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इतना महत्त्वपूर्ण कोई भी दूसरा वर्ष हिन्दी साहित्य के एक हजार बरस के इतिहास में, संभवत: नहीं है। इस लघु शोध-प्रबंध में 1936 के माध्यम से उस दौर की प्रवृत्तियों की पहचान का प्रयास किया गया है। इस तरह मेरे शोध की प्रकृति इतिहासपरक है। 1936 में प्रकाशित हिन्दी साहित्य की रचनाओं का जायजा लेना, इसका क़तई मकसद नहीं है। इसका उद्देश्य उन ऐतिहासिक शक्तियों की पहचान करना है जिनके कारण 1936 की साहित्यिक संस्कृति में व्यापक बदलाव आया। इस बदलाव को तत्कालीन रचनाओं में ऊँगली रखकर दिखाने की भी जरूरत है। यह भी सच है कि उस समय की सभी रचनाओं ने इस बदलाव को नहीं अपनाया। ऐसी रचनाएँ भी हुई, जो परंपरागत थीं और अपने समय-समाज से कटी हुई थीं। साहित्य का इतिहास गवाह है कि इस तरह की असावधान रचनाएँ भुला दी जाती हैं। इसलिए मैंने केवल उन रचनाओं को ध्यान में रखा है, जिनमें अपने समय और समाज को समझने की क्षमता है और तथ्य यह है कि 1936 की तमाम महत्त्वपूर्ण रचनाओं में युग-परिवर्तन की पग-ध्वनि सुनाई पड़ती है।

इस लघु शोध-प्रबंध के पहले अध्याय में 1936 को महत्त्वपूर्ण बनाने वाली ऐतिहासिक शक्तियों को यथाशक्ति पहचानने का प्रयास किया गया है जिनके सूत्र साहित्य से जुड़ते हैं। 1936 भारतीय इतिहास के उस दौर का वर्ष है, जब राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के महासागर में वामपंथ की ऊँची-ऊँची लहरें उठने लगी थीं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्राज्यवाद, विश्वयुद्ध और फासीवाद का संगठित विरोध होने लगा था। समाजवादी सोवियत रूस ने साम्राज्यवाद को खुली चुनौती दे रखी थी। दुनिया के गुलाम देशों को रूस से आज़ादी और समाजवादी समाज के निर्माण की प्रेरणा मिल रही थी। भारत में दलित आंदोलन महत्त्वपूर्ण हो चला था। **बाबा साहब डॉ० भीमराव अम्बेडकर** के नेतृत्व में दलित आंदोलन इतना असरदार हो चला था कि न चाहते हुए भी **गाँधी जी** और काँग्रेस को इस दिशा में ध्यान देना पड़ा। स्त्री-समाज के प्रति जागरूकता तो पहले से भी बन रही थी, इस दौर में नारीवादी आंदोलन और भी तेज़ हुए। 30 जनवरी 1936 को कलकत्ता में **'अंतर्राष्ट्रीय महिला कानफरेंस'** हुई, जो भारत में पहली थी। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रगतिशील लेखकों के संगठन बन रहे थे, भारत में भी कई वर्षों से प्रयास हो रहा था। **प्रेमचंद, सत्यजीवन वर्मा, जवाहरलाल नेहरू** ने भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को एकजुट होकर भारतीय साहित्य की अवधारणा के विकास की अपील की। ये लोग भी लेखकों का संगठन बनाना चाहते थे। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप 1936 में **'प्रगतिशील लेखक संघ'** की स्थापना हुई

दूसरे और तीसरे अध्याय में क्रमश: **'कविता'** और **'गद्य साहित्य'** को साहित्य की नई संस्कृति के प्रमाण के रूप में विश्लेषित किया गया है। इनमें 1936 के पहले की रचनाओं को भी ज़रूरत के अनुसार रखा गया है, ताकि परिवर्तनकामी चेतना की परंपरा को पहचाना जा सके। इस विवेचन में महत्त्वपूर्ण यह है कि यथार्थवादी और जनोन्मुखी प्रवृत्ति हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद के पहले से चली आ रही थी। इस प्रवृत्ति को प्रगतिवाद ने मार्क्सवाद

का मजबूत आधार प्रदान किया। यह कहना ठीक नहीं है कि प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य में एक सुनियोजित राजनैतिक उद्देश्य के तहत यथार्थवाद और जनवाद को बढ़ावा दिया। उस दौर की रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि यदि प्रगतिवाद नहीं भी आया होता, तो भी हिन्दी साहित्य की संस्कृति यथार्थवादी और जनवादी ही बनती। प्रगतिवाद ने युग की इस आवश्यकता को व्यवस्थित रूप से विकसित होने में सहायता पहुँचायी।

'आलोचनात्मक चेतना' नामक अंतिम अध्याय में उस दौर की मुख्य बहसों को पत्रिकाओं, लेखों और पुस्तकों के हवाले से रखते हुए प्रगतिशील रुझान को पहचाने का प्रयास किया गया है। इसमें मुख्य आधार 1936 की साहित्यिक पत्रिकाओं को बनाया गया है।

1936 का सीधा संबंध प्रगतिशील आंदोलन से है, प्रगतिशील आंदोलन का सीधा संबंध मार्क्सवाद से है और मार्क्सवाद का संबंध उस समय की पूरी दुनिया में विकसित होती हुई वामपंथी राजनीति से था, जिसका केन्द्र समाजवादी सोवियत रूस बन चुका था। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 1936 छायावाद के अंतिम वर्ष के रूप में भी महत्त्व रखता है। इस वर्ष **कामायनी**, राम की शक्तिपूजा, सरोजस्मृति, गीतिका, सान्ध्यगीत जैसी महत्त्वपूर्ण छायावादी कृतियाँ प्रकाशित हुईं, जो हिन्दी कविता के इतिहास में मील-स्तम्भ के समान है।

उत्तर-आधुनिकता ने इतिहास के अंत की घोषणा की है। उसके लिए तिथियों और तथ्यों का भी कोई ख़ास मतलब नहीं है, बल्कि सभी विचार-पद्धतियों को वह एकांगी और अपूर्ण मानती है। उसका मानना है कि किसी भी पाठ, चाहे वह इतिहास, तिथि या तथ्य ही क्यों न हो, में अर्थ की बहुलता होती है। मतलब एक ही पाठ के कई अर्थ हो सकते हैं। इसलिए पाठ को किसी भी बाहरी दबाव से मुक्त रखना चाहिए।

ऐसी स्थिति में, 1936 जैसे खास वर्ष पर शोध करने का क्या औचित्य हो सकता है?

1936 पर शोध के कुछ कारणों का जिक्र ऊपर हो चुका है। कुछ और कारणों को रखना चाहूँगा। क्या यह देखना ज़रूरी नहीं है कि छायावाद के रोमानी वातावरण में यथार्थवाद की कठोर **'युगवाणी'** क्यों सुनाई पड़ने लगी? छायावादी कविता के भीतर से ही छायावाद का विरोध क्यों होने लगा? 1936 के आस-पास पूरी दुनिया में लेखक संघों का निर्माण क्यों होने लगा? हिन्दी के अनेक साहित्यकारों को क्यों लगने लगा कि छायावाद अपर्याप्त हो गया है? नई दृष्टि की आवश्यकता क्यों महसूस होने लगी? 1936 ने हिन्दी साहित्य को छायावाद से यथार्थवाद की तरफ मोड़ दिया।

इस लघु शोध-प्रबंध को तैयार करने में 1936 की पत्रिकाओं का विशेष योगदान हैं। **'मारवाड़ी सार्वजनिक पुस्तकालय'**, दिल्ली के **शर्माजी और भैरवजी** ने पत्रिकाएँ उपलब्ध कराने में पूरी सहृदयता से मेरी मदद की। साहित्य अकादमी और जे० एन० यू० के पुस्तकालयों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अपने शोध-निर्देशक **प्रो० मैनेजर पाण्डेय** के प्रति पूरे आदर के साथ कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। उन्होंने पर्याप्त समय और ध्यान देकर मेरे लघु-शोध प्रबंध में व्यापक सुधार-कार्य करवाए।

प्रो० केदारनाथ सिंह, डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल, डॉ० वीर भारत तलवार, डॉ० गोबिन्द प्रसाद, डॉ० ओम प्रकाश सिंह, डॉ० ज्योतिसर शर्मा, डॉ० द्वारका प्रसाद वर्मा और डॉ० देवेन्द्र कुमार चौबे से सीखता-पढ़ता आया

हूँ। अत: इनके प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

अंजय भइया से आत्मबल, चंद्रशेखर भाई से अपनापन और अखिलेश से विश्वास मिला है। सुचिता ने इतना सहयोग किया है कि व्यक्त करना संभव नहीं। तोमोको, वीणा, योगेन्द्र, नंदलाल, दीनानाथ, विमल, अतुल, सरवर, सज्जाद, आदि मित्रों से समय-समय पर वैचारिक तथा मित्रवत् मदद मिलती रही है। जया जी ने बहुत ध्यान से शुद्धतापूर्वक टाईप करने में मेरी दुर्लभ मदद की।

अंत में, अपने परिवार के सदस्यों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मुझे बनाने में बहुत मेहनत की है।

1. जुलाई 2000

विनीत

कमलेश कुमार वर्मा

19, कावेरी छात्रावास,
जवाहरलाल नेहरू, विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067

पहला अध्याय

1936 ई० : परिवर्तनकामी चौथे दशक का केन्द्रीय वर्ष

अध्याय–एक

1936 ई० : परिवर्तनकामी चौथे दशक का केन्द्रीय वर्ष

9 और 10 अप्रैल 1936 ई० को 'प्रगतिशील लेखक संघ' का पहला अधिवेशन रिफ़ाहे आम हॉल, लखनऊ में हुआ। अध्यक्ष पद से हिन्दी-उर्दू के महान् कथाकार **प्रेमचंद** ने अपने अभिभाषण में कहा, "**हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी। अभी तक यह कसौटी अमीरी और विलासिता के ढंग की थी। हमारा कलाकार अमीरों का पल्ला पकड़े रहना चाहता था, उन्हीं की कद्रदानी पर उसका अस्तित्व अवलम्बित था और उन्हीं के सुख-दुःख, आशा-निराशा, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता की व्याख्या कला का उद्देश्य था।**"[1]

हिन्दू-उर्दू के महान् कथाकार **प्रेमचंद** का 1936 ई० में आह्वान था कि हमें सौंदर्यबोध को व्यापक और नया बनाना होगा। अब तक सौंदर्यबोध की जो कसौटी अपनाई जा रही थी वह पुरानी हो चुकी है। नये ज़माने के मनुष्य के अनुकूल उसमें खरे-खोटे की पहचान की क्षमता नहीं है। वह कसौटी सुविधाभोगी और सुख-संपन्न लोगों के अनुकूल है। नया ज़माना जनतंत्र का आ रहा है और जन-सामान्य की महत्ता बढ़ रही है इसलिए साहित्य के उद्देश्य को विस्तृत करना है। अध्यात्म और विलासिता के जाल से कला को मुक्त करके किसान-मज़दूर जैसे बहुसंख्यक साधारण मनुष्य के बीच उसे प्रतिष्ठित करना है। '**बिहार-प्रान्तीय-साहित्य-सम्मेलन**' 22-23 फरवरी 1936 ई० को पूर्णिया में हुआ। वहाँ से लौटकर **प्रेमचंद** ने लिखा, "अब हमें ऐसा कवि चाहिए जो हज़रते इक़बाल की तरह हमारी मरी हुई हड्डियों में जान डाले। देखिए, इस कवि ने लेनिन को खुदा के सामने ले जाकर क्या फ़रियाद करायी है और उसका खुदा पर कितना असर होता है कि वह अपने फ़रिश्तों को हुक्म देता है–

उट्ठो मेरी दुनिया के ग़रीबों को जगा दो,

काखे[1] उमरा के दरो-दीवार हिला दो।

गरमाओ गुलामों का लहू सोज़े यक़ी से

कुंजिश्क[2] फरोमाया[3] को शाहीं[4] से लड़ा दो।

सुलतानिये[5] जमहूर[6] का आता है ज़माना,

जो नक्शे कोहन[7] तुमको नज़र आये, मिटा दो।

जिस खेत से दहकाँ[8] को मयस्सर नहीं रोजी,

उस खेत के हर ख़ोशए[9] गंदुम को जला दो।

क्यों ख़लिकों[10] मख़लूक[11] में हायल रहे पर्दे,

पीराने[12] कलीसा को कलीसा[13] से उठा दो।

1. महल 2. चिड़ा 3. तुच्छ 4. शिक्रा 5.6. प्रजातंत्र 7. पुराना 8. किसान 9. गेहूँ की बाल 10. स्रष्टा 11. सृष्टि 12. मठधारी 13. मंदिर-मस्ज़िद।''[2]

इक़बाल इन अश्-आर में ग़रीबों को जगाने की बात करते हैं। वे चाहते हैं कि कुंजिश्क-जैसे तुच्छ पक्षी को भी अपनी ताकत पहचान लेनी चाहिए, उसे शाहीं-जैसे मज़बूत पक्षी से डरना नहीं चाहिए, बल्कि मुकाबला करना चाहिए। नया ज़माना कुंजिश्क के संगठित जनवादी संघर्ष के अनुकूल है, वंशानुगत श्रेष्ठता का दावा करने वाले शाहीं का समय गुज़र चुका है। जिस खेत से किसान को रोज़ी न मिले, उस खेत की फसल में आग लगा दो। मंदिर-मस्ज़िद से पुरोहितवादी वर्चस्व को मिटाने का ज़माना आ रहा है-जमहूरियत आ रही है-प्रजातंत्र आ रहा है।

प्रेमचंद के अभिभाषण के उपर्युक्त अंश और उनकी पसंद के उपर्युक्त अश्-यार 1936 ई० के बदलते दृष्टिकोण को बता रहे थे। साहित्य की संस्कृति में परिवर्तन आ रहे थे, जिनकी पहचान उस युग के रचनाकारों कों विभिन्न स्तरों पर हो रही थी। उस दौर की साहित्यिक कृतियों, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रमों के विश्लेषण से इन नई प्रवृत्तियों की पहचान की जा सकती है।

1936 ई० छायावाद का अंतिम वर्ष है और प्रगतिवादी आंदोलन का स्थापना वर्ष। इस अर्थ में यह संधि और संक्रमण का वर्ष है जिसकी पृष्ठभूमि कम-से-कम 1930 ई० से विश्वव्यापी स्तर पर तैयार हो रही थी। विश्व के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो साम्राज्यवाद, फासीवाद और विश्वयुद्ध से पूरी दुनिया त्रस्त थी। भारत में स्वतंत्रता आंदोलन तेज़ हो चला था। काँग्रेस तथा कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से समाजवादी विचारधारा का प्रसार भारत में होने लगा था। ऐसी स्थिति में, हिन्दी साहित्य में व्यापक बदलाव की ज़रूरत महसूस की जाने लगी थी ताकि वह नए युग का प्रतिनिधित्व कर सके।

चौथे दशक के शुरू से ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लेखकों, बुद्धिजीवियों, समाजसेवियों आदि की तरफ से विश्वयुद्ध, फासीवाद और साम्राज्यवाद का संगठित विरोध किया जा रहा था। सोवियत रूस, चीन, फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि देशों में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय लेखक संगठन बनाने के प्रयास हो रहे थे। इन संगठनों का उद्देश्य था कि दुनियाभर के लेखक, बुद्धिजीवी एक-दूसरे को जानें और एकजुट होकर विश्वस्तर पर प्रतिक्रियावादी ताकतों का विरोध करें। इसी क्रम में हमें विश्वशान्ति सम्मेलनों को भी देखना चाहिए। शांति सम्मेलनों का उद्देश्य लेखक संघ के उद्देश्य से कई मामलों में मिलता-जुलता था। दोनों विश्वयुद्ध, फासीवाद और पूँजीवादी साम्राज्यवाद के खिलाफ थे। दोनों लोकतंत्र के समर्थक थे और चाहते थे कि किसी भी तरह के युद्ध का विरोध किया जाना चाहिए। अगर युद्ध का वातावरण बना रहा तो जनसाधारण का विकास कभी नहीं हो पाएगा, स्थायी तौर पर स्वस्थ लोकतंत्र

स्थापित नहीं हो पाएगा और हमेशा सैनिक हस्तक्षेप की जनविरोधी गुंजाइश बनी रहेगी।

महान् रूसी उपन्यासकार **मैक्सिम गोर्की** के नेतृत्व में सोवियत संघ में **'सोवियत लेखक संघ'** की स्थापना 1934 ई० में हुई। इसके अधिवेशन के मौके पर **रोम्याँ रोलाँ, आन्द्रे जीद, हेनरी बारबूज, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ** आदि ने बधाइयाँ भेजीं और इस संघ के प्रति अपना समर्थन पेश किया।

हेनरी **बारबूज** ने एक ऐसा ही प्रयास जुलाई 1935 ई० में किया। उन्होंने लेखकों को संगठित करने के उद्देश्य से **'संस्कृति की रक्षा के लिए विश्व लेखक अधिवेशन'** (वर्ल्ड काँग्रेस ऑफ राइटर्स फार द डिफेंस ऑफ कल्चर) का आयोजन पेरिस में किया। इन अधिवेशन को आयोजित कराने में **मैक्सिम गोर्की, रोम्याँ रोलाँ, आन्द्रे मालरो, टॉमस मान, वाल्डे फ्रेंक** जैसे विश्वविख्यात साहित्यकारों का प्रयास था। दुनिया के प्रगतिशील लेखकों की एक स्थायी समिति का चयन इस अधिवेशन में किया गया, जिसके अध्यक्ष अंग्रेज़ी के कथाकार **ई० एम० फोर्स्टर** बनाए गए। प्रगतिशील लेखकों का संगठन चीन में भी बनाया गया।

लेखक संघ बनाने के उपर्युक्त प्रयासों के पीछे साम्राज्यवाद और फासीवाद का विरोध था। पूरी दुनिया दूसरे विश्वयुद्ध की तरफ बढ़ रही थी और चारों तरफ साम्राज्यवाद तथा फासीवाद का खतरा मँडरा रहा था। इन विश्वव्यापी समस्याओं के खिलाफ लेखकों को संगठित करने का प्रयास चल रहा था। ऐसे संघों का उद्देश्य था कि लेखन की रुचि को बदला जाए। मध्यकालीन सौन्दर्यबोध को छोड़ा जाए। जनतंत्र और जनवाद को बढ़ावा देने का प्रयास इन संघों के माध्यम से किया गया। हालाँकि हिन्दी लेखकों की सीधी पहुँच उपर्युक्त संघों एवं अधिवेशनों तक नहीं थी; पर भारत के कुछ बुद्धिजीवी ऐसे अवश्य थे, जिन्होंने इन विश्वव्यापी प्रयासों को करीब से देखा। इसी का परिणाम था कि कि **सज्जाद ज़हीर** और **मुल्कराज आनंद** जैसे नवयुवकों ने लंदन में 1935 ई० में **'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ'** की स्थापना की। इसमें प्राय: समाजवादी विचारधारा के नौजवान बुद्धिजीवी थे। इन्होंने **'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ'** को **'संस्कृति की रक्षा के लिए विश्व लेखक अधिवेशन, पेरिस'** से अंगीभूत कराने का प्रयास भी किया।

ब्रेसेल्स में 1936 ई० में **'विश्वशांति सम्मेलन'** हुआ। दूसरे विश्वयुद्ध की आशंकाओं के खिलाफ सारे संसार के शिल्पी और विचारक उद्विग्न थे। **रोम्याँ रोलाँ** और **हेनरी बारबजू** इस **'शान्ति-महायज्ञ के अग्निहोत्र'** थे। पेरिस के संस्कृति-रक्षा सम्मेलन के साथ इस **'विश्वशांति सम्मेलन'** को जोड़कर देखें तो यह बात सामने आएगी कि विश्वस्तर पर फासीवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ अभियान तेज़ हो चला था। **अमृतराय** ने लिखा है, "**जवाहरलाल नेहरू** ने ब्रसेल्स में हिन्द की आत्मा को वाणी दी। भारत के शिल्पी और विचारक भी पीछे नहीं रहे। उनकी ओर से एक घोषणापत्र ब्रसेल्स और पेरिस दोनों जगह भेजा गया, जिस पर दूसरे कुछ लोगों के साथ-साथ **रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामानंद चट्टोपाध्याय, नंदलाल बसु, प्रफुल्लचंद्र राय, जवाहरलाल नेहरू** और मृत्यु शैया पर लेटे हुए **प्रेमचंद** के हस्ताक्षर थे।

"सिडनी और बियेट्रिस वेब की किताब **'सोवियत कम्युनिज़्म'** रवीन्द्रनाथ ठाकुर की **'रुशियार चिठि'** के अंग्रेजी अनुवाद, अंग्रेज कार्टूनिस्ट **डेविल लो** की **'रूसी स्केचबुक'** और ऐसी ही और भी न जाने कितनी किताबों

और अखबारों की ज़ब्ती का सिलसिला जो सेंसर और कस्टमवालों ने चला रखा था, उसकी तीव्र भर्त्सना करने के बाद घोषणापत्र में कहा गया था-महायुद्ध की प्रेतछाया सारी पृथ्वी पर मँडरा रही है। फ़ासिस्ट तानाशाही खाने के बदले अस्त्र-संग्रह करके और संस्कृति के सुयोग के बदले साम्राज्य गठन के प्रलोभन को पकड़कर अपना सैनिकवादी रूप दिखला रही है। एबिसिनिया को पदानत करने के लिए इटली ने जिन सब पद्धतियों का सहारा लिया है, उनसे बुद्धि और सभ्यता के प्रति विश्वासी सब लोगों को गहरा धक्का लगा है। बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता और परम्परा विरोध, संकीर्ण राष्ट्रीयतावादी मनोवृत्ति को मनचाहा बढ़ावा, लड़ाई के सामानों की तेज़ वृद्धि-ये सब संकटमय परिस्थिति की पूर्व सूचना हैं। इस समय हम अपनी ओर से और अपने सभी देशवासियों की ओर से दूसरे देशों के जनसाधारण के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि हम युद्ध से घृणा करते हैं और चाहते हैं कि युद्ध का रास्ता छोड़ा जाए, युद्ध में हमारा कोई भी हित नहीं है। किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में भारतवर्ष के योगदान के हम घोर विरोधी हैं क्योंकि हम जानते हैं कि आगामी युद्ध में सभ्यता का विध्वंस हो जाएगा।''[3]

प्रगतिशील लेखकों, बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों ने विश्वस्तर पर फासीवाद के विरुद्ध कमर कस ली थी। संघ-निर्माण के पीछे संगठित विरोध का उद्देश्य था। यहाँ **'प्रगति'** का अर्थ उसके अभिधात्मक अर्थ तक सीमित नहीं था। जैसा कि बाद में **प्रेमचंद** ने **'प्रगतिशील'** शब्द से असहमति जताते हुए अपने अभिभाषण में कहा था, **''प्रगतिशील लेखक संघ' यह नाम ही मेरे विचार से गलत है। साहित्यकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है।''**[4] ऐसा कहते समय **प्रेमचंद** 'प्रगतिशील' शब्द के केवल सामान्य अर्थ को ध्यान में रख रहे थे। मगर दुनिया भर के प्रगतिशील लेखक संघों के निर्माण का विशिष्ट अर्थ था। व्यापक तौर पर देखें तो मुख्य रूप से तीन बातों को ध्यान में रखकर प्रगतिशील लेखकों को संगठित करने का प्रयास किया जा रहा था-साम्राज्यवाद, फासीवाद और विश्वयुद्ध। लेखकों से उम्मीद की जा रही थी कि वे अपने साहित्य में इन तीनों बातों का विरोध करें। इन तीनों समस्याओं का विश्वव्यापी असर विभिन्न स्तरों और रूपों में दिखाई पड़ रहा था। अत: इन विभिन्न स्तरों और रूपों पर प्रकाश डालना और इनके विरुद्ध जनता में जागरूकता पैदा करने का प्रयास लेखकों को करना चाहिए। लोकतंत्र के पक्ष में लिखना चाहिए, ताकि दुनिया की तमाम सत्ताएँ जनता के वास्तविक हित की चिन्ता कर सकें। युद्ध को महिमा-मंडित न किया जाए। नस्लवाद का विरोध हो। राष्ट्रीयता के नाम पर दूसरे देशों के प्रति नकारात्मक और एकांगी दृष्टि न अपनाई जाए, बल्कि विश्व-भावना का प्रचार-प्रसार किया जाए। तमाम तरह के मध्यकालीन मूल्यबोधों से लड़ने का प्रयास भी इन लेखकों ने किया, क्योंकि इन मूल्यबोधों का इस्तेमाल फासीवादी ताक़तें कर रही थीं। नस्ल और रक्तशुद्धता के नाम पर भयानक नरसंहार की तैयारियाँ चल रही थीं। इसी का परिणाम था कि हिटलर ने आर्य-गौरव के नाम पर लाखों निर्दोष यहूदियों की हत्या करायी थी। व्यापारिक पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद का दुर्दांत रूप धारण करके अधिकांश दुनिया को गुलाम बना रखा था। फासीवादी सनकी सत्तापरस्तों ने नस्लवाद का घिनौना दृष्टिकोण अपनाकर हथियारों का ज़खीरा तैयार कर रखा था। पूरी दुनिया दूसरे विश्व-युद्ध की तरफ बढ़ रही थी।

ऐसे समय में दुनिया भर के प्रगतिशील लेखक प्रयास कर रहे थे कि विश्वशांति कायम हो। इस प्रयास को

जो लोग महज राजनीति समझते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि युद्धोन्माद की तरफ दुनिया को धकेलने वाले लोग तो पूरे संसार के शत्रु हैं।जो राजनीति व्यापक मानवता के हित में हो, उसका राजनीति के नाम पर विरोध करना समझदारी नहीं हैं,यह मानव-विरोधी क़दम है। जनता में जागृति पैदा करके ही विश्वशांति क़ायम की जा सकती थी और ग़ुलाम देशों को आज़ाद कराया जा सकता था। लेखकों को संगठित करके फासीवाद की इतिहास-विरुद्ध प्रतिक्रियावादी दृष्टि का मुकाबला किया जा सकता था।

इस तरह, 1936 ई० के आस-पास **'प्रगतिशील'** शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हो रहा था। लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता हैं, किन्तु उस दौर में लेखकों से खास ढंग की प्रगतिशीलता की माँग की जा रही थी, **प्रेमचंद** सामान्य ढंग की प्रगतिशीलता के आधार पर **'प्रगतिशील लेखक संघ'** नामकरण के औचित्य पर सवाल खड़ा कर रहे थे।

विश्वस्तरीय लेखक संघ के सम्मेलनों ने साहित्य के दृष्टिकोण को व्यापक बनाया। इनके माध्यम से साहित्यकार अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं से जुड़ा और ऐसी-ऐसी समस्याएँ साहित्य में जगह पाने लगीं, जो पूरी दुनिया में फैली थीं। कई तरह की संकीर्णताओं को दूर करने में इन सम्मेलनों से मदद मिली। **प्रेमचंद** ने इन सम्मेलनों से, भारतीय लेखकों को, सीखने-समझने के लिए प्रेरित करते हुए अपने अभिभाषण में कहा, **"अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों की रिपोर्ट पढ़ें, तो हम देखेंगे कि ऐसा कोई शास्त्रीय, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्न नहीं है, जिस पर उसमें विचार-विनिमय न होता हो। इसके विरुद्ध, हम अपनी ज्ञान-सीमा को देखते हैं तो हमें अपने अज्ञान पर लज्जा आती है। हमने समझ रखा है कि साहित्य-रचना के लिए आशुबुद्धि और तेज़ कलम काफी है। पर यही विचार हमारी अवनति का कारण है। हमें अपने साहित्य का मानदण्ड ऊँचा करना होगा जिसमें वह समाज की अधिक मूल्यवान् सेवा कर सके, जिसमें समाज में उसे वह पद मिले जिसका वह अधिकारी है, जिसमें वह जीवन के प्रत्येक विभाग की आलोचना-विवेचना कर सके और हम दूसरी भाषाओं तथा साहित्यों का जूठा खाकर ही संतोष न करें, किन्तु खुद भी उस पूँजी को बढ़ायें।"**[5]

प्रेमचंद अंतर्राष्ट्रीय साहित्यकार-सम्मेलनों का हवाला देकर बता रहे थे कि नये ज़माने का साहित्य जीवन के विभिन्न पहलुओं से जुड़ रहा है। ज्ञान-विज्ञान की ज़रूरत साहित्यसर्जना के लिए भी है। केवल भावना और भाषा से साहित्य की रचना करना ठीक नहीं। इस तरह उपर्युक्त लेखक संघ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साहित्य को यथार्थवादी और जनोन्मुख बनाने का प्रयास कर रहे थे।

समाजवादी सोवियत संघ ने साम्राज्यवाद का विरोध किया। उसने जारशाही रूसी शासन में उपनिवेश बनाए गए देशों को आज़ाद घोषित किया और दुनिया के तमाम देशों की स्वतंत्रता का समर्थन किया। मार्क्सवाद को दार्शनिक आधार बनाकर समाजवादी सोवियत संघ ने आर्थिक क्षेत्र में लगातार तरक्की की। संसार के पिछड़े देशों की जनता को मार्क्सवाद और सोवियत संघ में अपनी मुक्ति का रास्ता दिखाई पड़ने लगा। उस दौर के लेखक संघों, शांतिसम्मेलनों, फासीवाद-विरोधी सम्मेलनों आदि पर मार्क्सवाद का गहरा असर था। प्रो० बिपिन चंद्र ने

चौथे दशक में विश्वस्तर पर पूँजीवाद के असफल और समाजवाद के सफल होने की चर्चा करते हुए लिखा है, "**1929** ई० में अमरीका में एक बहुत बड़ी आर्थिक मंदी आई जो धीरे-धीरे पूरी दुनिया में छा गई। दूसरे पूँजीवादी देशों में उत्पादन और विदेशी व्यापार में बहुत बड़ी गिरावट आई। इससे जनता की आर्थिक स्थिति ख़राब हो गई और बड़े पैमाने पर बेरोजगारी फैली। एक समय ऐसा हो गया था जब ब्रिटेन में **30** लाख, जर्मनी में **60** लाख और अमरीका में **120** लाख लोग बेरोजगार थे। दूसरी ओर सोवियत संघ की आर्थिक स्थिति इससे ठीक विपरीत थी। वहाँ गिरावट तो नहीं ही आई, बल्कि **1929-36** के बीच पहली दो पंचवर्षीय योजनाएँ सफलतापूर्वक लागू की गईं जिससे सोवियत औद्योगिक उत्पादन चार गुना से अधिक हो गया। इस तरह विश्वव्यापी मंदी के कारण पूँजीवादी प्रणाली बदनाम हो गई और लोगों का ध्यान मार्क्सवाद, समाजवाद और आर्थिक योजना के विचार की ओर गया। परिणामस्वरूप अधिकाधिक लोग, ख़ासकर युवक, मज़दूर और किसान समाजवादी विचारों की ओर खिंचने लगे।"[6]

इस तरह, हम पाते हैं कि चौथे दशक में मार्क्सवाद और सोवियत संघ को वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में जबरदस्त जन-समर्थन मिलने लगा था। किसान, मज़दूर, नौजवान आदि वर्गों को लगने लगा कि दुनिया-भर की समस्याओं का समाधान मार्क्सवाद और समाजवादी व्यवस्था में मिल सकता है।

भारत के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो यहाँ स्वाधीनता आंदोलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था। स्वाधीनता आंदोलन के माध्यम से कई तरह की दूसरी समस्याओं को भी उठाया जा रहा था। केवल राजनीतिक आज़ादी को पर्याप्त नहीं माना जा रहा था। यही कारण है कि स्वाधीनता आंदोलन के भीतर विभिन्न वर्गों की अपनी लड़ाइयाँ भी चल रही थीं। राजनीतिक आज़ादी प्राप्त करने के उद्देश्य के प्रति प्राय: सभी वर्गों के लोग सहमत थे, किंतु वर्गीय हितों के प्रति सचेत प्रयास अलग-अलग रास्तों से हो रहे थे। किसानों की क्षेत्रीय और अखिल भारतीय सभाएँ बन रही थीं। विभिन्न पार्टियाँ किसानों के मुद्दों को अपने-अपने ढंग से उठा रही थीं। मज़दूरों की यूनियनें हड़तालों के माध्यम से अपनी ताकत का एहसास करा रही थीं। डॉ० भीमराव अम्बेडकर दलितों के अधिकार, आरक्षण आदि के लिए तीखा संघर्ष कर रहे थे। '**अंतर्राष्ट्रीय महिला-सभा**' का गठन हो चुका था, जिसका एक अधिवेशन, भारत में पहली बार 1936 ई में कलकत्ता में हुआ। स्त्रियों के चहुँमुखी विकास का अंतर्राष्ट्रीय प्रयास इस सभा के माध्यम से हो रहा था।

1930 ई० के आस-पास भारतीय राजनीति में वामपंथ का असर बढ़ने लगा था। '**भारत की कम्युनिस्ट पार्टी**' की स्थापना तो 1925 ई० में हो चुकी थी और बहुत तेज़ी से वामपंथी विचारधारा का प्रभाव छाने लगा था। काँग्रेस के भीतर से वामपंथी रुझान प्रकट हुए, फलत: 1934 ई० में काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सी० एस० पी०) की स्थापना हुई। उस दौर के वामपंथी झुकाव की चर्चा करते हुए प्रोफेसर **बिपिन चन्द्र** ने लिखा है, "**सारे देश में 1927** के बाद युवक संगठन स्थापित किए गए। **1928** और **1929** के दौरान पूरे देश में युवकों के सैकड़ों अधिवेशन आयोजित किए गए। जिन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक बुराइयों से देश पीड़ित था, इन्हें वक्ताओं ने इनसे छुटकारा पाने के लिए क्रांतिकारी हल की वकालत की। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस ने पूरे देश का दौरा किया। अपने दौरे में उन्होंने साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और जमींदारी-प्रथा की

आलोचना की और समाजवादी विचारधारा को अपनाने की शिक्षा दी। भगत सिंह और चंद्रशेखर आज़ाद के नेतृत्व वाले अतिवादी क्रांतिकारी भी समाजवाद की ओर झुके। पूरे दूसरे दशक के दौरान ट्रेड यूनियन तथा किसान आंदोलन तेज़ी से फैलते रहे।''[7]

1930 ई० के बाद जवाहरलाल नेहरू ने वामपंथी विचारधारा के अनुसार स्वतंत्रता आंदोलन और भारतीय समाज को समझने और नेतृत्व करने का प्रयास किया। इसके प्रभावस्वरूप नेहरू ने गाँधीवाद की कुछ कमियों के प्रति अपनी असहमति भी जताई। उन्होंने 1936 ई० में लखनऊ और फैजपुर के काँग्रेस अधिवेशनों में जो भाषण दिए, उन पर वामपंथी विचारधारा का गहरा असर है। लखनऊ काँग्रेस में उन्होंने अध्यक्ष पद से कहा, "मुझको यकीन है कि दुनिया के मसलों और हिन्दुस्तान के मसलों को हल करने का सिर्फ एक तरीक़ा है और वह समाजवाद है। जब मैं इस लफ़्ज को इस्तेमाल करता हूँ तो उसे इंसान-परस्ती के संदिग्ध मानी में नहीं, लेकिन वैज्ञानिक और आर्थिक मानी में इस्तेमाल करता हूँ। साथ ही समाजवाद एक आर्थिक सिद्धांत से ज़्यादा मानी रखता है। वह ज़िन्दगी का एक बुनियादी उसूल है। इस वजह से भी वह मुझे अपनी तरफ खींचता है। सिवाय समाजवाद के मैं कोई दूसरा तरीक़ा नहीं देखता जिससे अपने हिंदुस्तानी भाइयों की ग़रीबी, ग़ज़ब की बेकारी, गिरी हुई हालत और गुलामी हम दूर कर सकते हैं।''[8]

उन दिनों मार्क्सवाद सर्वाधिक उपयुक्त दर्शन के रूप में स्वीकार्य होने लगा था। नेहरू ने फ़ासिज्म और नाजीवाद को साम्राज्यवाद से जुड़ा हुआ बताया। उन्होंने स्पेन के युद्ध की चर्चा करते हुए चीन, अबीसिनिया, मध्य यूरोप, हिन्दुस्तान की समस्याओं को एक विश्व समस्या के विविध रूप में दिखाते हुए लिखा, "फ़ासिज्म और नाज़ीवाद की यह चुनौती मूलत: साम्राज्यवाद की ही चुनौती थी। ये दोनों जुड़वाँ भाई थे—फ़र्क सिर्फ़ इतना ही था कि साम्राज्यवाद का विदेशों में, उपनिवेशों और अधिकृत देशों में जैसा नंगा नाच देखने में आता था, वैसा ही नाच फ़ासिज्म व नाज़ीवाद का निज के देशों में दिखाई पड़ता था। अगर दुनिया में आज़ादी क़ायम होनी है, तो न सिर्फ़ फ़ासिज्म और नाज़ीवाद ही को मिटाना होगा, बल्कि साम्राज्यवाद का भी बिल्कुल नामोनिशान मिटा देना होगा।''[9]

इस तरह जवाहरलाल नेहरू ने फ़ासीवाद, नाज़ीवाद और साम्राज्यवाद को दुनिया के शत्रु के रूप में देखा और मार्क्सवाद से उन्हें उम्मीद हो चली कि संसार की समस्याओं को निपटाने में इससे मदद मिल सकती है। भारतीय राजनीति पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ रहा था। इधर मज़दूरों और किसानों के संगठन तैयार होने लगे थे। इन दोनों वर्गों ने बहुत उत्साह से आंदोलन किए।

केरल के मालाबार क्षेत्र में 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' के प्रयासों से 1934 ई० से ही किसानों के अधिकारों की लड़ाई लड़ी जा रही थी। आंध्र के तटवर्ती इलाकों में 'आंध्र प्रांतीय रैयत एसोसिएशन' और 'आंध्र जमीन रैयत एसोसिएशन' द्वारा सरकार और ज़मींदारों के ख़िलाफ किसानों के आंदोलन चलाए गए। बिहार के स्वामी सहजानंद सरस्वती ने 'बिहार प्रांतीय किसान सभा' के द्वारा 1935 ई० में जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव पारित कराया। किसान सभा के कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने की दिशा में 'बिहार प्रांतीय किसान सभा' ने सभाओं, सम्मेलनों, रैलियों और प्रदर्शनों का बड़ा प्रभावशाली इस्तेमाल किया। 1938 ई० में किसानों का एक विशाल

प्रदर्शन पटना में हुआ, जिसमें लगभग एक लाख किसानों ने हिस्सा लिया।

1936 ई० में लखनऊ में '**अखिल भारतीय किसान कॉंग्रेस**' की स्थापना हुई, जिसका नाम बाद में बदलकर '**अखिल भारतीय किसान सभा**' कर दिया गया। इसका पहला सम्मेलन अप्रैल 1936 ई० में ही हुआ। सभा के अध्यक्ष स्वामी सहजानंद सरस्वती और महासचिव आंध्र प्रदेश के किसान नेता तथा कृषिक्षेत्र की समस्याओं के विद्वान् **एन० जी० रंगा** बनाए गए। इसके पहले सम्मेलन में **जवाहरलाल नेहरू, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, सोहन सिंह जोश, इंदुलाल यागनिक, मोहनलाल गौतम, अहमद दीन** आदि उपस्थित थे। इन नेताओं ने किसान आंदोलनों का स्वागत किया।

इन प्रयासों का प्रभाव यह पड़ा कि कॉंग्रेस के फैजपुर अधिवेशन में किसान कार्यक्रमों को किसान सभा के प्रस्तावों के अनुरूप बनाया गया। कॉंग्रेस ने सरकार के सामने मुख्य रूप से निम्नलिखित माँगें रखीं–भूराजस्व और लगान में 50 प्रतिशत कमी, ऋणों की वसूली का स्थगन, सामंती वसूलियों की समाप्ति, काश्तकारों को बेदखली से सुरक्षा, खेतिहर मजदूरों को गुज़ारे लायक मज़दूरी और किसान यूनियनों को मान्यता।

फैजपुर कॉंग्रेस (1936 ई०) के साथ-साथ '**अखिल भारतीय किसान कॉंग्रेस**' की भी सभा हुई, जिसकी अध्यक्षता एन० जी० रंगा ने की। इस अवसर पर 500 किसानों ने मनमाड से फैजपुर तक 200 मील पैदल मार्च किया जिसका उद्देश्य था कि किसान आंदोलन को दूर-दूर तक पहुँचाया जाए और आम जनता में इसके प्रति जागरूकता पैदा की जाए।

1930 ई० के आस-पास पंजाब में किसान आंदोलन तेज़ी से विकसित होने लगे थे। '**नौजवान भारत सभा**', '**कीर्ति किसान**', कॉंग्रेस और अकाली दल के कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों से 1937 में स्थापित '**पंजाब किसान समिति**' ने उन्हें एक सूत्र में बाँध दिया। वहाँ भी किसान आंदोलनों के नेता और कार्यकर्ता गाँव-गाँव घूमते, सदस्य बनाते, सभाएँ करते और किसानों को आंदोलन के कार्यक्रमों से अवगत कराते। पंजाब के किसानों की मुख्य माँग थी-भूराजस्व में कटौती और ऋणों के भुगतान का स्थगन। उनके आक्रमण का निशाना था यूनियनिस्ट पार्टी का मंत्रिमंडल जिसमें पश्चिमी पंजाब के भूस्वामी का वर्चस्व था।

देश के दूसरे हिस्सों में किसान आंदोलन चल रहे थे। उनकी मुख्य माँगें पूरे देश में लगभग समान थीं। प्राय: सभी किसान लगान, जमींदारी प्रथा और कर्ज की समस्या से पीड़ित थे। बंगाल के बर्दवान के किसानों ने बंकिम मुखर्जी के नेतृत्व में '**नहर टैक्स**' के विरुद्ध संघर्ष किया और कई सुविधाएँ प्राप्त कीं। चौबीस परगना के किसानों ने अप्रैल 1938 में अपनी माँगों के समर्थन में कलकत्ता में जुलूस निकाला। असम की सुरमा घाटी में जमींदारों के अत्याचार के ख़िलाफ़ छह महीने तक लगान रोको आंदोलन चला और करुणासिंधु राय ने काश्तकारी अधिनियम में संशोधन के लिए अभियान चलाया। उड़ीसा में मालती चौधरी तथा कुछ अन्य नेताओं के नेतृत्व में '**उत्कल प्रांतीय किसान सभा**' स्थापित हुई। इस सभा ने कॉंग्रेसी मंत्रिमंडल के माध्यम से कृषि क्षेत्र में सुधार के लिए महत्त्वपूर्ण कानून बनवाए। उड़ीसा के किसान आंदोलनों में आदिवासी भी शामिल हुए। गुजरात में बँधुआ मज़दूरी के ख़िलाफ़ आंदोलन चला और काफ़ी सफलता भी मिली। '**मध्य प्रांत किसान सभा**' के नेतृत्व में माँग

की गई-मालगुजारी की समाप्ति, टैक्सों में कटौती और ऋणों के भुगतान का स्थगन।

किसानों की तुलना में मज़दूरों के संगठन पहले बनने लगे थे और वे अपने अधिकारों की माँग करते हुए राजनीतिक रूप से सक्रिय हो चुके थे। राष्ट्रीय आंदोलन को गति देने में मज़दूरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। हड़ताल, प्रदर्शन, जुलूस आदि के माध्यम से मज़दूरों ने लंबे समय तक सशक्त संघर्ष किया।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काँग्रेस (एटक) की स्थापना 1920 ई० में हुई, जिसके अध्यक्ष **लाला लाजपतराय** और महामंत्री **दीवान चमन लाल** बने। **लाला लाजपत राय** ने पूँजीवाद को साम्राज्यवाद और सैन्यवाद से जोड़कर देखा और इनके मुकाबले के लिए मज़दूर वर्ग के संगठित संघर्ष पर ज़ोर दिया। 7 नवम्बर 1920 को उन्होंने कहा था–"**संगठित पूँजी ने भारत का रक्त चूस लिया है। आज यह संगठित पूँजी के पैरों के नीचे बेहाल पड़ा है। सैन्यवाद और साम्राज्यवाद पूँजीवाद के जुड़वाँ बच्चे हैं। वे तीनों एक में ही हैं, एक ही के ये तीन रूप हैं। इनकी छाया, इनका फल और इनके तने, सब ज़हरीले हैं। बहुत हाल में इनके ज़हरीले प्रभाव के लिए प्रतिविष ढूँढ़ा गया है, और वह प्रतिविष है संगठित मज़दूर** ।"[10]

एटक से देश के कई बड़े नेता जुड़े थे, जैसे–**चित्तरंजन दास, सी० एफ० एंड्रूज, जे० एम० सेनगुप्त, सुभाषचंद्र बोस, जवाहरलाल नेहरू, सत्यमूर्ति** आदि। 1922 ई० के गया अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस ने एटक के समर्थन और उसको सहयोग की घोषणा की।

1920 ई० में मज़दूर यूनियनों की संख्या 125 थी, जिनमें 2,50,000 सदस्य थे। 1921 ई० में **प्रिंस ऑफ वेल्स** के भारत आगमन के विरोध में बंबई की सूती कपड़ों की फैक्ट्रियों में हड़ताल रही और लगभग 1,40,000 मज़दूर सड़कों और गलियों में निकल पड़े। इसी बीच एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी, जिसने मज़दूर आंदोलनों को प्रभावित किया। गाँधीजी द्वारा 1918 ई० में अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोसिएशन (टी० एल० ए०) की स्थापना की गई। गाँधी जी ने पूँजीपतियों और मज़दूरों के बीच मध्यस्थता के सिद्धांतों पर आधारित ट्रस्टीशिप की व्यवस्था दी। इस व्यवस्था के माध्यम से मज़दूरों को कई लाभ भी हुए, जैसे 1918 में एक विवाद के दौरान मज़दूरी में 27.5 प्रतिशत बढ़ोतरी कराई गई, जो अब तक की बढ़ोतरियों में सबसे ज़्यादा है। पर इस व्यवस्था से मज़दूर आंदोलनों में शिथिलता आई।

1927 में वामपंथी दलों ने अपने को '**वर्कर्स एंड पीजेंट्स पार्टी**' (डब्ल्यू० पी० पी०) के रूप में संगठित किया। इनके नेता थे- **श्रीपाद अमृत डाँगे, मुजफ़्फ़र अहमद, पूरनचंद जोशी** तथा **सोहन सिंह जोश**। डब्ल्यू० पी० पी० के नेतृत्व में बंबई के सूती मिलों के मज़दूरों ने छह महीने (अप्रैल-सितम्बर 1928) की हड़ताल की। 1928 ई० के झरिया अधिवेशन के समय तक एटक में भी कम्युनिस्टों की स्थिति काफी प्रभावशाली हो गई थी।

1930 और 1936 के बीच मज़दूर आंदोलन धीमा पड़ गया था। 1932-34 के सविनय अवज्ञा आंदोलन में मज़दूरों ने हिस्सा नहीं लिया। 1937-39 के दौरान जब चुनाव हुए और अंतरिम सरकारें गठित हुईं, तब मज़दूर आंदोलन फिर से जीवित हो उठा। 1937 के चुनावों में एटक ने कुछ केंद्रों को छोड़कर कांग्रेस के प्रत्याशियों का समर्थन किया। काँग्रेस के चुनावी घोषणा पत्र में यह घोषणा की गई थी कि काँग्रेस श्रमिकों के झगड़ों को निपटाने

के लिए क़दम उठाएगी और उनके यूनियन बनाने तथा हड़ताल करने के अधिकार की सुरक्षा के लिए कारगर उपाय करेगी। काँग्रेस की प्रांतीय सरकारों के कार्यकाल के दौरान ट्रेड यूनियन आंदोलन का अभूतपूर्व उत्थान हुआ। 1937 और 1939 के बीच ट्रेड यूनियनों की संख्या 271 से 562 हो गई तथा इन यूनियनों की कुल सदस्यता 2,61,047 से बढ़कर 3,99,159 हो गई। इस बीच हड़तालों की संख्या में भी बहुत अधिक बढ़ोतरी हुई। इन हड़तालों में से अधिकांश सफलतापूर्वक समाप्त हुईं।

इस दौर के दलित आंदोलनों की चर्चा आवश्यक होगी। आगे चलकर दलित जीवन से जुड़े विभिन्न मुद्दों ने हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया। दलित अवधारणा ने हिन्दी साहित्य की सौन्दर्याभिरुचि पर पुनर्विचार की आवश्यकता महसूस करा दी। भारतीय समाज और राजनीति में परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज़ करने में भी दलित आंदोलन का योगदान रहा। 1932 ई० के पूना पैक्ट में गाँधी जी और डॉ० अम्बेडकर के विचारों को रखते हुए दलित आंदोलन की दिशा और प्रकृति की पहचान की जा सकती है।

नवम्बर 1930 से जनवरी 1931 तक हुए गोलमेज सम्मेलन, लंदन में दलितों के प्रतिनिधि के रूप में डॉ० अम्बेडकर गए थे। गाँधी जी तो एक तरह से पूरी भारतीय जनता के प्रतिनिधि समझे जा रहे थे। गोलमेज सम्मेलन में दलितों के चुनावी अधिकारों को लेकर आम सहमति नहीं बन पाई, अत: अंग्रेज़ सरकार ने दलितों को अलग संप्रदाय मानकर मुसलमानों और सिखों की तरह हिंदुओं से अलग निर्वाचक-मंडल की व्यवस्था दी। गाँधी जी ने इस व्यवस्था का जबरदस्त विरोध किया और आमरण अनशन पर बैठ गए; परिणामस्वरूप पूना पैक्ट (1932) हुआ और दलितों को हिंदू धर्म के भीतर मानते हुए आरक्षण की व्यवस्था की गई।

डॉ० अम्बेडकर गाँधी जी के आमरण अनशन के दबाव के कारण पूना पैक्ट करने को बाध्य हुए थे। वे काँग्रेस और गाँधीवाद से मुक्त होकर दलितों के आंदोलन को चलाना चाहते थे। उन्होंने अनुभव किया कि काँग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले दलित नेता खुलकर दलित-हित में काम नहीं कर पाते। इसके कारणों की तलाश करते हुए डॉ० अम्बेडकर ने लिखा है–

"अस्पृश्यों को आंदोलन करना होगा, यदि वे अपनी गलतियों के प्रति सचेत रहना चाहते हैं, यदि वे अपने बीच विद्रोह की भावना को जीवित रखना चाहते हैं। उन्हें आंदोलन करना होगा, क्योंकि उन्हें हिन्दुओं को जताना होगा कि जो अस्पृश्यों के लिए त्रासदी है, वही सवर्ण हिन्दुओं के लिए अपराध है। जहाँ तक काँग्रेस से मुसलमान जुड़े हैं, हो सकता है कि वह उग्र हिंदू संगठन न हो। लेकिन जहाँ तक काँग्रेस से सवर्ण हिंदू जुड़े हैं, वह निश्चय ही उग्र तथा उच्च कुलीनता के दंभ से परिपूर्ण हिंदू संगठन है। निश्चय ही अस्पृश्यों के आंदोलन का अर्थ होगा, सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ़ खुला संघर्ष। काँग्रेस के भीतर अस्पृश्यों का आंदोलन हो ही नहीं सकता। निश्चय ही इसका अर्थ होना चाहिए, पार्टी के भीतर ही भयंकर संघर्ष। लेकिन काँग्रेस अपनी रक्षा के लिए उसकी अनुमति नहीं दे सकती।"[11]

डॉ० अम्बेडकर ने मद्रास विधान-मंडल की चर्चा की है जहाँ एक दलित सदस्य राव बहादुर राजा की तरफ से मद्रास प्रेसिडेंसी में दलितों के मंदिर-प्रवेश का प्रस्ताव रखा गया। काँग्रेसी नेता श्रीराजगोपालाचारी ने अपने विह्प के माध्यम से दलित सदस्यों को भी मज़बूर कर दिया कि वे प्रस्ताव के विपक्ष में मतदान करें, फलस्वरूप

प्रस्ताव पारित नहीं हो पाया। आगे चलकर **गाँधीजी** और **श्रीराजा** में इस मुद्दे पर लंबा पत्राचार हुआ। **गाँधीजी** बार-बार धैर्य और सहनशीलता का पाठ **श्रीराजा** को पढ़ाते रहे और कहते रहे कि वे **श्री राजगोपालाचारी** पर विश्वास रखें।

डॉ० **अम्बेडकर** दलितों की ताकत को इस रूप में विकसित करना चाहते थे कि वे हिंदुओं के कृपाकांक्षी न रहें। **श्रीराजा** ने पूना पैक्ट कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी और वे **गाँधीजी** का समर्थन कर रहे थे, परंतु 1937 के चुनावों के बाद गठित काँग्रेसी मंत्रिमंडलों के दलित-विरोधी व्यवहार के कारण वे अपने को छला हुआ महसूस करने लगे थे। डॉ० **अम्बेडकर काँग्रेस** और **गाँधीजी** से पहले ही असंतुष्ट थे–

"हो सकता है कि परिस्थितियों से विवश होकर काँग्रेस अस्पृश्यों के लिए कुछ करे। केवल एक ही परिस्थिति में काँग्रेस ऐसी विवशता अनुभव करेगी। वह यह है कि विधान-मंडल में अपने बहुमत के लिए वह अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों पर निर्भर करे। तभी अस्पृश्य काँग्रेस से अपनी शर्त मनवाने की स्थिति में होंगे और काँग्रेस को विवश होकर उन्हें मानना पड़ेगा। ऐसी निर्भरता की स्थिति में अस्पृश्यों के लिए सार्थक होगा कि वे काँग्रेस के साथ मिलकर सरकार बनाएँ। वह सही सौदा होगा। लेकिन इस समय तो स्थिति यह है कि सर्वत्र काँग्रेस का इतना भारी बहुमत है कि विधान-मंडल में उसका पूर्ण वर्चस्व है। उसें कोई बाह्य समर्थन नहीं चाहिए। जो अस्पृश्य काँग्रेस में हैं, वे उसकी पूँछ के अंतिम सिरे पर हैं और पूँछ इतनी लंबी है कि वह हिल नहीं सकती। यह दूसरी वजह, जिसके कारण काँग्रेस में शामिल होने से अस्पृश्यों को कोई लाभ नहीं हो सकता।"[12]

पहली वजह यह थी कि काँग्रेस आमूल परिवर्तनवादी पार्टी नहीं है, इसलिए **'अस्पृश्यों के लिए ऐसी पार्टी में शामिल होना बेकार और बेमानी है'।**

डॉ० **अम्बेडकर** दलितों के लिए आरक्षण के जबरदस्त हिमायती थे। वे किसी भी तरह से आरक्षण को छोड़ना नहीं चाहते थे। दलितों के विकास के लिए सर्वाधिक सटीक उपाय के रूप में वे आरक्षण को देखते थे। सवर्ण हिंदुओं की सदाशयता और हृदय-परिवर्तन के भरोसे दलितों के उद्धार की गाँधीवादी दृष्टि को वे धोखा बताते थे। डॉ० अम्बेडकर का स्पष्ट विचार था कि यदि दलितों को आरक्षण नहीं मिला तो वे किसी भी हालत में आगे नहीं आ पाएँगे, क्योंकि हिंदू समाज उसे हर तरह से दबा कर रखना चाहता है–

"काँग्रेस जो हिंदुओं का ही राजनीतिक उपनाम है, उसको छूट थी कि वह पूना समझौते द्वारा निर्धारित सीटों से अधिक का लाभ अस्पृश्यों को दे सकती थी। सामान्य सीटों पर चुनाव लड़ने के लिए अस्पृश्य उम्मीदवारों को अपनाकर वह ऐसा कर सकती थी। कानून में ऐसी कोई पाबंदी नहीं थी, जो उन्हें ऐसा करने से रोकती। लेकिन काँग्रेस ने ऐसा कुछ नहीं किया। इससे पता चलता है कि यदि अस्पृश्यों के लिए किसी सीट का आरक्षण न होता तो हिंदू कभी यह देखने की परवाह न करते कि कोई अस्पृश्य विधान-मंडल के लिए चुना जाए। इसके विपरीत जब सीटों का आरक्षण हुआ तो हिंदू आरक्षण के प्रभाव को विफल करने में अग्रणी रहे और उन्होंने प्रयास किया कि सीटें ऐसे अस्पृश्यों को मिलें, जो उनके गुलाम बनने के लिए राजी हों।"[13]

गाँधीजी, काँग्रेस और सवर्ण हिंदू चाहते थे कि दलित आंदोलन उग्र नहीं हो पाए। इसलिए सवर्ण हिंदुओं से बार-बार अपील की जा रही थी कि वे दलितों की स्थिति के बारे में सहानुभूतिपूर्वक विचार करें। ये लोग वास्तव में दलितों की तरफ से नहीं, बल्कि सवर्ण हिंदुओं की तरफ से सोच रहे थे। इनका उद्देश्य सवर्ण हिंदुओं का हित था, दलितों का नहीं। 24 सितम्बर 1932 को पूना समझौते पर हस्ताक्षर हुए। 25 सितम्बर 1932 को बंबई में हिंदुओं की एक सार्वजनिक सभा में, पूना समझौता के समर्थन में, एक संकल्प पारित किया गया–

"यह सम्मेलन 24 सितम्बर 1932 को सवर्ण हिंदुओं तथा दलित वर्गों के नेताओं के बीच पूना समझौते को पुष्ट करता है और विश्वास करता है कि ब्रिटिश सरकार हिंदू समाज के भीतर पृथक निर्वाचक-मंडलों के गठन के अपने निर्णय को वापस ले लेगी और समझौते को पूर्णत: स्वीकार कर लेगी। सम्मेलन अनुरोध करता है कि सरकार तुरंत कदम उठाए, ताकि महत्मा गाँधी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना अनशन समाप्त कर सकें और और समय रहते ऐसा हो सके। सम्मेलन संबद्ध समुदायों के नेताओं से अपील करता है कि वे समझौते तथा इस संकल्प के निहित अर्थों को समझें और उनकी पूर्ति के लिए सच्चा प्रयास करें।

"सम्मेलन संकल्प करता है कि अब से हिंदुओं में किसी को भी उसके जन्म के कारण अस्पृश्य नहीं माना जाएगा और अब तक जिन्हें ऐसा माना जाता रहा है, उन्हें वैसे ही अधिकार प्राप्त होंगे, जैसे कि सार्वजनिक कुओं, सार्वजनिक स्कूलों, सार्वजनिक सड़कों तथा अन्य सभी सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग के बारे में अन्य हिन्दुओं को प्राप्त हैं। निश्चय ही इस अधिकार को सर्वप्रथम अवसर मिलते ही कानूनी मान्यता दी जाएगी और वह स्वराज संसद का सर्वप्रथम अधिनियम होगा, यदि उससे पूर्व उसे ऐसी मान्यता नहीं मिली होगी।

"यह भी तय है कि सभी हिंदू नेताओं का यह कर्त्तव्य होगा ही कि वे हर वैध तथा शांतिपूर्ण साधन से शीघ्र ही उन सभी सामाजिक असुविधाओं को दूर करेंगे, जो इस समय रीति-रिवाज द्वारा तथाकथित अस्पृश्य वर्गों पर थोपी गई हैं। इनमें मंदिरों में प्रवेश पर रोक भी शामिल है।"[14]

ऊपर के संकल्प से स्पष्ट है कि दलितों को आंदोलन का रास्ता छोड़ देना चाहिए, उन्हें हिन्दू बने रहना चाहिए, सवर्ण हिंदुओं को अपने विचार-व्यवहार में बदलाव लाना चाहिए, अस्पृश्यता का अंत करना चाहिए, वैध तथा शांतिपूर्ण साधन से सामाजिक असुविधाओं को दूर किया जाना चाहिए।

दलित आंदोलन के संदर्भ में मुख्य तौर पर दो दृष्टियाँ काम कर रही थीं। एक तरफ **गाँधी जी**, काँग्रेस, सवर्ण हिन्दू आदि थे, दूसरी तरफ **डॉ० अम्बेडकर** जैसे दलित नेता थे। **गाँधीजी** का रास्ता सवर्ण समाज के हितों के अनुकूल था। **गाँधीजी** धीमी प्रक्रिया से दलितों को अधिकार दिलाना चाहते थे ताकि साधन-संपन्न सवर्ण हिन्दू समाज उनके और काँग्रेस के खिलाफ न हो जाए। दलित आंदोलन की तरफ ध्यान देना **गाँधीजी** की मज़बूरी हो गई थी, उन्होंने अपनी तरफ से कभी भी दलित मुद्दे को तूल देना नहीं चाहा। दलित नेताओं और दलित समाज के जागरूक हो जाने के कारण उनकी उपेक्षा करना संभव नहीं था। **गाँधीजी** ने 1932 में 'हरिजन सेवक संघ' बनाया, ताकि दलित-कार्यक्रमों को चलाया जा सके। 'हरिजन सेवक संघ' के बारे में डॉ० अम्बेडकर की मान्यता थी, "हरिजन सेवक संघ छोटा-सा संगठन है। यदि प्रेस लगातार उसका प्रचार-प्रसार न करता, तो उसका नाम भी सुनाई न देता। भारत एक विशाल महाद्वीप है। उसमें कोई **6,96,831** गाँव **(1931** की जनगणना रिपोर्ट

के अनुसार) हैं। अस्पृश्य इन सभी **6,96,831** गाँवों में फैले हैं। ऐसा एक भी गाँव नहीं है, जिसमें अस्पृश्य न हों। **372** कमेटियों की पहुँच कितने अस्पृश्यों तक हो सकती है। यह संघ विशाल महासागर में नन्हीं बूँद के समान है।''[15]

'हरिजन सेवक संघ' को कभी भी मन से नहीं चलाया गया। गाँधी जी ने दलित आंदोलन के तेवर को कुंद करने के लिए तमाम प्रयास किए। वे प्रत्यक्ष तौर पर घोषित करते रहे कि दलितों के हित उनके नेतृत्व में सुरक्षित हैं, पर उन्हें सबसे ज़्यादा चिंता सवर्ण हिंदू समाज की रही। उस तरह उन्होंने दलितों के साथ **'विश्वासघात'** किया। डॉ० **अम्बेडकर** लिखते हैं–

''मेरा विचार है कि अब किसी के मन में यह संदेह नहीं रह गया होगा कि श्री गाँधी और सेवक संघ ने स्वयं को शांतिपूर्ण अनुरोधों तक इन राजनीतिक कारणों से सीमित रखा है कि कहीं हिंदू नाराज न हो जाएँ और काँग्रेस भंग न हो जाए। इसी आशय से मैं कह चुका हूँ कि संघ का राजनीति से वास्ता है और उसकी विफलता का कारण हे, उसकी गलत राजनीति। मेरा विश्वास है कि गलत राजनीति कहकर मैंने विनम्रता का परिचय दिया है। यह विश्वासघात है, यदि संरक्षक द्वारा अपने संरक्षित के हितों की बलि को विश्वासघात कहा जा सके।''[16]

चौथे दशक में दलित मुद्दा राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो चुका था। इस आंदोलन के विरोधी तथा समर्थक अपनी-अपनी तरफ से सक्रिय हो चुके थे। **गाँधी जी** दलित मुद्दे को राजनीतिक नहीं मानते थे। वे मानते थे कि **'समूचा आंदोलन सनातनियों के हृदय-परिवर्तन का है'** तथा **'मंदिर-प्रवेश का यह मसला एक सशक्त धार्मिक सुधार है'**। **गाँधीजी** ने शुरू में कहा था कि दलित मुद्दे पर **'हिन्दू महासभा'** को विचार करना चाहिए, क्योंकि दलित हिन्दू होते हैं और उनकी समस्या हिन्दू समाज की समस्या है। अगर दलित आंदोलन राजनीतिक रूप न लेता, तो शायद **गाँधीजी** उस पर ध्यान भी नहीं देते। **गाँधीजी** ने सदैव प्रयास किया कि दलित आंदोलन को राजनीतिक न रहने दिया जाए।

दलितों की समस्या सामाजिक तौर पर तो प्राचीन काल से रही है, किन्तु सत्ता में बैठे लोगों ने उनकी स्थिति को सुधारने का प्रयास कभी नहीं किया। सत्ताधारियों ने दलितों पर तब ध्यान दिया, जब उनका जुड़ाव राजनीति से हुआ। **गाँधी जी** और काँग्रेस की तरफ से दलित मुद्दे पर केवल इसलिए ध्यान दिया गया, ताकि राजनीतिक समीकरण को अपने पक्ष में रखा जा सके। दलित आंदोलन के संदर्भ में **गाँधीजी** के विचारों और उनके उद्देश्यों को निम्नलिखित बिन्दुओं में रखा जा सकता है–

1. दलित हिंदू धर्म के अन्दर माने जाएँ। सनातनी हिंदुओं को अस्पृश्यता समाप्त करने पर विचार करना चाहिए। अत: **'हिन्दू महासभा'** जैसे संगठनों को धार्मिक और नैतिक स्तर पर दलितों की स्थिति सुधारने का प्रयास करना चाहिए।

2. हमें संगठित होकर स्वतंत्रता आंदोलन को आगे बढ़ाना चाहिए। दलितों के आंदोलन को हिन्दू धर्म के खिलाफ राजनीतिक आंदोलन बनाने से हमारी राजनीतिक एकता को नुकसान पहुँचेगा। अत: हिन्दू

धर्म के भीतर की विसंगतियों को गैर-राजनीतिक मंचों और तरीकों से दूर करते हुए पूरी एकता के साथ स्वराज-प्राप्ति की लड़ाई लड़नी चाहिए।

3. दलितों को अगर अस्पृश्यता के आधार पर आरक्षण दिया गया तो वे हमेशा के लिए बहिष्कृत जीवन जीने को अभिशप्त हो जाएँगे। हिन्दू समाज से कटकर वे जी भी नहीं सकते। अत: बिना आरक्षण दिए, उन्हें विभिन्न स्तरों पर सुधार का लाभ पहुँचाना चाहिए।

4. दलितों की अस्पृश्यता को समाज से धीरे-धीरे दूर किया जा सकता है। कानून बनाकर या दबाव डालकर यह काम नहीं किया जा सकता है। सनातनी हिंदुओं के हृदय-परिवर्तन के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करने होंगे। दलितों की दशा की तरफ उन सनातनी हिंदुओं का ध्यान खींचना पड़ेगा ताकि वे संवेदनशील और उदार मन से सोचें-विचारें।

5. हिन्दू धर्म के ढाँचे को अक्षुण्ण बनाए रखकर ही दलितों का उद्धार संभव है। यहाँ तक कि वर्णाश्रम भी दलितों के विरुद्ध नहीं है। वर्णाश्रम की मौजूदा व्यावहारिक कमियों को दूर करके एक उत्तम समाज का निर्माण किया जा सकता है।

गाँधीजी के दलित-संबंधी विचारों को संक्षेप में मैंने रखने का प्रयास किया है। **डॉ० अम्बेडकर** के विचारों को उद्धरणों के माध्यम से पहले रखा जा चुका है।

गाँधीजी स्वतंत्रता आंदोलन को सबसे ज़्यादा महत्त्व दे रहे थे, बाकी तमाम कार्यक्रमों को वे आज़ादी-प्राप्ति में सहयोगी बनाना चाहते थे। वे ऐसा कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे, जिससे स्वतंत्रता आंदोलन कमज़ोर पड़े। उस दौरान स्वतंत्रता आंदोलन को चलाने में **गाँधीजी** के साथ बड़े-बड़े पूँजीपति, जमींदार, मध्यमवर्ग के लोग थे। अत: वे दलित आंदोलन को भरसक गैर-राजनीतिक रंग देना चाहते थे, ताकि उनके अपने समर्थक भड़क न जाएँ। दलितों को राजनैतिक रूप से जागरूक करने का मतलब था, सवर्ण हिंदू समाज को उनके शत्रु के रूप में पेश करना। जबकि यही सवर्ण हिंदू समाज **गाँधीजी** और काँग्रेस के सहयोगी थे।

डॉ० अम्बेडकर का प्राथमिक और अंतिम उद्देश्य था दलितों को सब तरह से आगे बढ़ाना। इसके लिए ज़रूरी था कि दलितों में राजनीतिक जागरूकता पैदा की जाए और तमाम तरह के अधिकारों के लिए सत्ता के खिलाफ खुली लड़ाई की जाए। दलितों को सभी स्तरों और पहलुओं पर दबाया गया था, अत: **डॉ० अम्बेडकर** दलितों को सभी तरह की सत्ताओं के खिलाफ खड़ा करना चाहते थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि तत्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन से प्राप्त आज़ाद भारत में दलितों की स्थिति कुछ भी नहीं सुधरेगी। इसलिए यह बहुत ज़रूरी था कि दलितों के हक के लिए हिंदू समाज, काँग्रेस और अंग्रेज सरकार के खिलाफ लड़ाई की जाए। दलितों को अपनी लड़ाई खुद लड़नी होगी। **डॉ० अम्बेडकर** काँग्रेस और **गाँधीजी** को दलितों का अगुआ नहीं मानते थे। वे इन दोनों को दलित-विरोधी तथा सवर्ण हिन्दुओं का समर्थक मानते थे। वर्णाश्रम के समर्थक **गाँधीजी** को दलितों का हितैषी मानना तर्क-संगत था भी नहीं।

चौथे दशक में स्त्री-समाज में पर्याप्त जागरूकता देखी जा सकती है। 1935 ई० के कानून में भारतीय

स्त्रियों को चुनाव में मतदान का अधिकार मिल चुका था। काँग्रेस तथा विभिन्न संगठनों में महिलाएँ सक्रिय हो चुकी थीं। किंतु, इनमें से अधिकांश महिलाएँ उच्च वर्ग और ऊँची जाति से संबंध रखती थीं।

30 जनवरी 1936 ई० को कलकत्ता के टाउन हॉल में 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला-सभा' और 'भारत-राष्ट्रीय महिला-सभा' का सम्मिलित अधिवेशन आरम्भ हुआ। 'विशाल भारत' मार्च 1936 के अंक में 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला-कानफरेंस' नामक लेख में श्रीमती कमला चटर्जी ने लिखा है, "**.....तब एक अपूर्व अवसर था, क्योंकि देश के इतिहास में महिलाओं की यह पहली कानफरेंस थी, जिसमें दूर-दूर के देशों से प्रतिनिधि महिलाएँ आई थीं और जिसके विचारणीय विषय अत्यन्त व्यापक थे।**"[17]

'अंतर्राष्ट्रीय महिला-सभा' का परिचय देते हुए श्रीमती कमला चटर्जी आगे लिखती हैं, "**अब इस संघ में चालीस विभिन्न देशों की राष्ट्रीय महिला-सभाएँ संघबद्ध हैं।.....आजकल यह अंतर्राष्ट्रीय महिला-सभा संसार की 4,00,00,000 महिलाओं की प्रतिनिधि है।**"[18]

इस अंतर्राष्ट्रीय प्रयास का उद्देश्य क्या है, "**अंतर्राष्ट्रीय महिला-सभा का प्रधान उद्देश है संसार के विभिन्न देशों की महिला-संस्थाओं में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक स्थायी सूत्र प्रदान करना, जिसमें वे सब मिलकर स्त्रियों को आर्थिक, नैतिक और सामाजिक उन्नति के लिए कार्य कर सकें। इस सभा की मुख्य शक्ति इस बात में है कि यह किसी आंदोलन-विशेष से सम्बंध नहीं रखती। चूँकि सभा का कार्य किसी विशेष बात के प्रचार तक ही सीमित नहीं है और चूँकि इसमें प्रत्येक जाति, धर्म, श्रेणी अथवा वर्ग की महिलाओं का प्रसन्नता से स्वागत किया जाता है, इसलिए यह सभा मानव-जाति की भलाई के सभी कार्यों में सहायता पहुँचाने में समर्थ सिद्ध हुई है।**"[19]

'अंतर्राष्ट्रीय महिला-सभा' की स्थापना 1888 में अमेरिका में हुई थी। अपने 1904 के बर्लिन अधिवेशन में इस सभा ने स्त्री-पुरुष के लिए '**समान नैतिक स्टैन्डर्ड**' स्थापित करने की माँग की। स्त्रियों और बच्चों के व्यापार को रोकने के लिए एक कमेटी बनाई। स्त्रियों के मताधिकार और समान नागरिक-अधिकार दिलाने के लिए एक संगठन स्थापित किया गया।

1936 में हुए अधिवेशन में विभिन्न देशों की महिला प्रतिनिधियों ने आकर स्त्रियों के अंतर्राष्ट्रीय समाज के प्रति अपनी जागरूकता का परिचय दिया, "**कलकत्ते के इस अधिवेशन में सम्मिलित होने वाली प्रतिनिधि महिलाओं में चौबीस विदेशों से आई थीं, उन्नीस भारतवर्ष की थीं और तीस बंगाल की। इनके अतिरिक्त अनेक दर्शिकाएँ भी थीं। विदेशों से आने वाली महिला-प्रतिनिधियों में आयरलैण्ड से 1, ग्रेट-ब्रिटेन से 8, बेल्जियम से 1, रूमानिया से 4, स्विट्ज़रलैण्ड से 3, फ्रांस से 2, डेनमार्क से 1, ग्रीस से 1, हालैण्ड से 1, आस्ट्रेलिया से 2, और न्यूजीलैण्ड से 1, महिला पधारी थीं। चीन से एक और आस्ट्रेलिया से दो दर्शिकाएँ आई थीं।**"[20]

स्त्री के चहुँमुखी विकास के लिए प्रयासरत '**अंतर्राष्ट्रीय महिला सभा**' की गतिविधियों और उसके इतिहास की संक्षिप्त चर्चा इस लेख में है। 30 जनवरी 1936 को हुए अधिवेशन के प्रस्तावों के बारे में बताया गया है कि गाँवों के पुनरुद्धार, लड़कियों की शिक्षा, बच्चों की शिक्षा और स्वास्थ्य, स्त्रियों को मताधिकार, मातृत्व में मृत्यु से

बचाव, स्त्री-बच्चों के व्यापार पर रोक आदि विषयों पर चर्चा हुई तथा प्रस्ताव पारित किए गए।

चौथे दशक में अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर घटित कुछ घटनाओं, प्रवृत्तियों, विचारधाराओं आदि की संक्षिप्त चर्चा के बाद हमें देखना है कि हिन्दी साहित्य पर उपर्युक्त बातों का क्या असर पड़ा। उपर्युक्त संदर्भों में हिन्दी साहित्य की नई संस्कृति विकसित हो रही थी, जिसका केन्द्र बना-1936 ई०। इसके लिए हमें चौथे दशक के हिन्दी साहित्य को ध्यान में रखना होगा। आगे के अध्यायों में विस्तार से विश्लेषण होगा कि साहित्य की यह नई संस्कृति विभिन्न रचनाओं में किस तरह व्यक्त हो रही थी।

प्रेमचंद का आह्वान कि **'हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी'**-इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी साहित्य की संस्कृति में व्यापक परिवर्तन की ज़रूरत आ पड़ी थी। हिंदी-उर्दू के महान् कथाकार **प्रेमचंद** चौथे दशक की परिवर्तनकामी चेतना को 1936 ई० में आह्वान के रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। **'प्रगतिशील लेखक संघ'** की स्थापना और छायावाद के अंत अथवा **'युगांत'** ने 1936 ई० को साहित्य की नई संस्कृति की निर्माण-प्रक्रिया के केन्द्रीय वर्ष के रूप में महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

1936 ई० में हिंदी साहित्य की जो नई संस्कृति बन रही थी, उसे निर्धारित करने के लिए उस दौर की साहित्यिक रचनाओं और सामाजिक इतिहास के अंतस्संबंधों की गहरी पड़ताल ज़रूरी है। उसके पहले हमें यह देखना है कि लेखक संगठन बनाने की आवश्यकता हिन्दी समाज को क्यों महसूस हो रही थी? इस संदर्भ में **प्रेमचंद** के प्रयासों को विशेष तौर पर देखना होगा।

प्रेमचंद ने फरवरी, 1934 में **'एक सार्वदेशिक साहित्य-संस्था की आवश्यकता'** पर ज़ोर देते हुए लिखा कि **"भारत में विज्ञान और दर्शन की, इतिहास और गणित की, शिक्षा और राजनीति की आल-इंडिया संस्थाएँ तो हैं, लेकिन साहित्य की कोई ऐसी संस्था नहीं है। इसलिए साधारण जनता को अन्य प्रांतों की साहित्यिक प्रगति की कोई ख़बर नहीं होती और न साहित्य-सेवियों को ही आपस में मिलने का अवसर मिलता है।"**[21]

यही कारण है कि भारत की प्रमुख भाषाओं के बड़े-बड़े लेखकों के नाम तक हम नहीं जान पाते। उनके साहित्य से परिचित होना बहुत दूर की बात है। क्षेत्रीय या प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य के विकास का पूरा ख्याल रखा जाना चाहिए, पर अखिल भारतीय साहित्य के निर्माण के लिए अब प्रयास जरूर किया जाना चाहिए, अन्यथा, **"बंगाल के दो-चार कलाकारों के नाम से तो हम परिचित हैं, लेकिन गुजराती, तमिल, तेलगू और मलयालम आदि भाषाओं के निर्माताओं से हम बिल्कुल अपरिचित हैं।.....हरेक प्रान्तीय भाषा अपना सम्मेलन अलग-अलग करती है और करना ही चाहिए। हरेक प्रान्त में लोकल कौंसिलें हैं, पर प्रान्तीय साहित्यों की केन्द्रीय संस्था कहाँ है? हमारे ख्याल में ऐसी एक संस्था की ज़रूरत है और यदि साहित्य सम्मेलन इसकी स्थापना करे, तो वह राष्ट्र और हिन्दी की बड़ी सेवा करेगा।"**[22]

प्रान्तीयता बनी रहे, पर राष्ट्रीयता के निर्माण में वह आड़े न आए। सभी प्रान्तीय साहित्य एक-दूसरे को समझें और राष्ट्रीय भाषा तथा राष्ट्रीय साहित्य के निर्माण का प्रयास करें, **".....प्रान्तीय भाषाओं का संबंध ज़्यादा घनिष्ठ किया जाय.....हम राष्ट्रीय भाषा का ही नहीं, राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण भी कर सकें। हरेक**

प्रांत के साहित्य की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यह आवश्यक है, कि हमारी राष्ट्रभाषा में उन सारी विशेषताओं का सामंजस्य हो जाए और हमारा साहित्य प्रान्तीयता के दायरे से निकलतर राष्ट्रीयता के क्षेत्र में पहुँच जाए।.....एक राष्ट्रीय साहित्य संस्था द्वारा हम इस प्रगति को और तेज़ कर सकते हैं।''[23]

प्रेमचंद अखिल भारतीय साहित्य को भारत की अखंडता और एकता के प्रश्न से जोड़कर देख रहे थे। वे भारत को एक राष्ट्र के रूप में निर्मित करने के प्रश्न को साहित्य के हाथों सौंप रहे थे। वे हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा या राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित करना चाहते थे। उन्होंने 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन का नैसर्गिक कर्त्तव्य' बताया कि वह अखिल भारतीय लेखक संघ जैसी संस्था की भूमिका अदा करे, "राष्ट्रों का निर्माण उसके साहित्य के हाथ में है। यदि साहित्य प्रान्तीय है, तो उसके पढ़ने वालों में भी प्रान्तीयता अधिक होगी। अगर सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य-सेवियों का वार्षिक अधिवेशन होने लगे, तो संघर्ष की जगह सौम्य, सहकारिता का भाव उत्पन्न होगा और यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि साहित्यों के सन्निकट हो जाने से प्रान्तों में भी सामीप्य हो जाएगा।.....सत्संग से बहुत-से भ्रम, बहुत-सी संकीर्णताएँ आप ही आप शान्त हो जायेंगी। अन्यत्र हम पी० ई० एन० (पिन) नामक विश्व साहित्य संस्था का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कर रहे हैं। जब बड़ी-बड़ी उन्नत भाषाओं को ऐसी एक संस्था की ज़रूरत मालूम होती है, तो क्या भारत की प्रान्तीय भाषाओं का एक केन्द्रीय संस्था से सम्बद्ध हो जाना आवश्यक नहीं है?''[24]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने अखिल भारतीय साहित्यिक सभा या मंडल को गठित करने के प्रस्ताव को जब स्वीकार लिया, तब प्रेमचंद ने बहुत प्रशंसा की। उन्होंने उम्मीद जताई कि इस प्रस्ताव को पूरे मनोयोग से कार्य-रूप दिया जाएगा और सभा की तमाम कार्रवाइयाँ राष्ट्रभाषा हिन्दी में होंगी। उन्होंने मई, 1935 में लिखा, "साहित्य-सम्मेलन ने अबकी अखिल भारतीय साहित्यिक सभा या मंडल की आयोजना का प्रस्ताव स्वीकार करके बड़ा प्रशंसनीय काम किया है।.....हमें आशा है, यह प्रस्ताव केवल सम्मेलन की रिपोर्ट का आभूषण न बनकर कार्यरूप में आयेगा।.....इस मंडल का यह उद्देश्य भी होना चाहिए, कि वह राष्ट्रभाषा में ही अपनी सारी कार्रवाई करे। .....हमारे राष्ट्र की साहित्यिक सम्पत्ति को राष्ट्र की भाषा में संसार के सामने आना चाहिए और उसे संसार के साहित्य में उचित स्थान मिलना चाहिए। इसकी ज़रूरत क्यों हो कि हम संसार के सामने जब आने का साहस करें तो अंग्रेज़ी वेश में आयें।''[25]

प्रेमचंद ने श्री सत्यजीवन वर्मा के प्रयासों की प्रशंसा की है। श्री सत्यजीवन वर्मा ने 'हिन्दी लेख संघ' की स्थापना की थी। प्रेमचंद ने दिसम्बर, 1935 में लिखा था, "हिन्दी लेखक संघ के जीवन का एक वर्ष पूरा हो गया। उसके मुखपत्र 'लेखक' के जीवन के भी छह महीने समाप्त हुए.....।''[26] इसका मतलब हुआ कि श्री सत्यजीवन वर्मा ने 'हिन्दी लेखक संघ' की स्थापना 1934 ई० के नवम्बर-दिसम्बर में की होगी। प्रेमचंद ने सितम्बर, 1934 में लिखा, "हिन्दी लेखक-संघ के संगठन के विषय में श्री सत्यजीवन जी वर्मा जो आंदोलन कर रहे हैं, उसके विषय में आपने संगठन के लिए एक अपील प्रकाशित की है।.....आशा है, लेखक वर्ग इसे आवश्यक समझेगा और श्री सत्यजीवन जी वर्मा के पास से आवेदन-पत्र तथा विवरण-पत्र मँगाकर, प्रस्तावित विवरण को देखकर, संघ का सदस्य बन जाएगा और अपने समुदाय की हित-रक्षा में भाग लेगा।''[27]

प्रेमचंद ने श्री सत्यजीवन वर्मा की पूरी अपील को प्रकाशित किया। अपील के कुछ अंश मैं उद्धृत करना चाहूँगा, जिनसे पता चलता है कि उस दौरान लेखक संघ बनाने का विचार प्राय: आम सहमति का विषय बन चुका था। लेखकों के अधिकारों की रक्षा करना भी ऐसे संघ का उद्देश्य बताया जा रहा था। अनुभव किया जा रहा था कि संगठित हुए बिना लेखकों को अपने उद्देश्य की प्राप्ति में पूरी सफलता नहीं मिल सकती। श्री सत्यजीवन वर्मा ने लेखक समुदाय से अपील की, " **'लेखक संघ' के संगठन के प्रस्ताव पर पत्रों में काफी चर्चा हो रही है। प्राय: सभी लोग इस प्रस्ताव से किसी न किसी रूप में सहमत हैं।.....संगठन का यह युग है।.....समाज के प्रत्येक श्रेणी के लोग अपना-अपना संगठन कर रहे हैं।.....व्यक्तिगत प्रयत्नों से आजकल कुछ भी नहीं हो सकता। जब तक हमारा एक लक्ष्य न होगा, हम एक मत न होंगे, हममें अपने ध्येय की प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा न होगी, हम उसके निमित्त प्रयत्नशील न होंगे-हम कुछ नहीं कर सकते। इसी हेतु हमें संगठन की आवश्यकता होती है।.....लेखकों के आर्थिक हित की रक्षा के निमित्त उनके लिए समय-कुसमय में आर्थिक सहायता का आयोजन करने के लिए भी एक संस्था की आवश्यकता होगी। 'लेखक संघ' की उपयोगिता इस विषय में भी प्रतीत होती है।**''[28]

लेखक संघ के निर्माण का मुद्दा राष्ट्रीय एकता से जुड़ा था। अखिल भारतीय साहित्य की अवधारणा चौथे दशक में विचार-विमर्श का विषय बन चुकी थी। राजनीतिक नेताओं को भी राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय साहित्य की ज़रूरत महसूस होने लगी थी। वे समझने लगे थे कि प्रान्तीय साहित्य और भाषा हमारी विविधता को तो दर्शाती है, किंतु राष्ट्रीय साहित्य और भाषा के अभाव में प्रतिनिधि साहित्य और प्रतिनिधि भाषा की कमी पूरी नहीं हो पाती। प्रान्तीय साहित्य को भी प्रान्तीयता से मुक्त करने की अपील की जाने लगी थी, ताकि वह अखिल भारतीय स्तर पर स्वीकार्य हो सके।

'**भारतीय साहित्य और पंडित जवाहर लाल नेहरू**' (नवम्बर 1935) नामक लेख में **प्रेमचंद** ने लिखा है कि अल्मोड़ा जेल में बंद नेहरू जी भी लेखक संघ की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। नेहरू जी का एक लेख उस दौरान 'प्रताप' में छपा था, जिसका हवाला देकर **प्रेमचंद** ने इस संयोग को महत्त्वपूर्ण माना है कि देश के साहित्यकार और नेता एक साथ अखिल भारतीय साहित्य के निर्माण की जरूरत महसूस कर रहे हैं, "**जिन दिनों 'हंस' के पृष्ठों में भारतीय साहित्य के संगठन और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय साहित्य-संघ स्थापित करने की जरूरत पर विचार किया जा रहा था, उन्हीं दिनों पंडित जवाहरलालजी .....इसी दिशा में चिन्तन कर रहे थे। उन्हें हमारे आयोजन की बिल्कुल ख़बर न थी।.....उनके और हमारे आयोजनों में अद्भुत सादृश्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि राष्ट्र की विचारधारा सांस्कृतिक एकता की ओर कितने वेग और कितनी एकरसता के साथ दौड़ रही है।.....साहित्यिक और सांस्कृतिक एकता राष्ट्र के विकास का मुख्य अंग है और यह भविष्य का शुभ लक्षण है कि वह भावना राष्ट्र के मन में प्रबल हो उठी है।**''[29]

प्रेमचंद ने 'प्रताप' में छपे नेहरूजी के लेख का संक्षेप में विश्लेषण करते हुए कुछ उद्धरण भी दिए हैं। नेहरूजी का विचार है कि प्रांतीय भाषाएँ आदान-प्रदान के अभाव में एक-दूसरे से विचार और रुचि के स्तर पर अलग-थलग पड़ गई हैं, इसलिए नेहरूजी का ख़्याल है, "**हमें इस अनुभव से लाभ उठाना चाहिए। उनके**

साहित्यकारों की एक संस्था बने, जिसकी बैठक कभी-कभी हुआ करे। इसके बजाय मुक़ाबले और द्वेष के आपस का मेल बढ़ेगा और हमारा साहित्य एक-दूसरे की तरक्की में मदद कर सकेगा। विचारधाराएँ देश भर में तेज़ी से फैलेंगी और हमारी एकता बढ़ेगी। मैंने सुना है कि इसके आरंभ करने का कुछ प्रयत्न हो रहा है; लेकिन उसके बारे में मुझे कुछ ज़्यादा मालूम नहीं है। मैं आशा करता हूँ, ऐसा भारतीय साहित्य-संघ भारत की सब भाषाओं की दावत करेगा। हिन्दी और उर्दू तो बहनें नहीं हैं, एक ही शरीर पर दो चेहरे हैं। उनका तो हमें करीब से करीब संबंध करना है। बँगला, मराठी और गुजराती, हिन्दी की छोटी बहनें हैं, दक्षिण की भाषाएँ हमारे देश में सबसे पुरानी हैं। इनके अलावा और भी भारत की छोटी और बड़ी भाषाओं को उस संस्था में लेना चाहिए। मैं तो यह भी सिफ़ारिश करूँगा कि अंग्रेज़ी की भी उसमें जगह हो। हमारी भाषा वह नहीं है; लेकिन फिर भी देश के जीवन में उसका बड़ा हिस्सा है। वह एक तरह की सौतेली भाषा हो गयी है।''[30]

भारतीय साहित्य को विश्व स्तरीय बनाने का आह्वान नेहरू जी ने किया, "हमारे साहित्यकारों को दुनिया के साहित्यकारों में सम्बन्ध पैदा करना चाहिए और अंतर्राष्ट्रीय साहित्य-संघों में शरीक होना चाहिए। इसके बग़ैर हम दुनिया के अगुआ देशों में नहीं हो सकते। हमको यह मानना होगा कि इस नवयुग में नए विचार योरोप और अमेरिका में आ रहे हैं। उनके बगैर समझे हम आजकल की दुनिया का सामना नहीं कर सकते। पहली बात जो यह नवयुग सिखाता है, वह यह है कि संसार एक है, उसके अलग-अलग टुकड़े हम नहीं कर सकते; और जो अलग होना चाहते हैं, वे पीछे पड़ जाते हैं।''[31]

इस तरह नेहरूजी राजनीतिक ज़रूरत के तहत अखिल भारतीय साहित्य और उसको विश्वस्तरीय बनाए जाने की आवश्यकता महसूस कर रहे थे। वे चाहते थे कि प्रान्तीय भाषाएँ अपनी प्रान्तीयता के कारण राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता की उपेक्षा न करें, बल्कि पूरे विश्व को एक समझकर सीखने और लिखने का प्रयास करें। नेहरू जी अच्छी तरह जानते थे कि स्वतंत्रता आंदोलन की चेतना के विकास में साहित्य और भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। कोई भी एक भाषा नहीं थी, जो पूरे भारत की संपर्क भाषा के रूप में भी पूरे भारत में समझी-बोली जा सके। अत: उपर्युक्त प्रयासों की जरूरत आ पड़ी थी। प्रेमचंद ने जून, 1935 में लिखा, "लेखक की प्रतिभा भी जब एक विशाल राष्ट्र की भावना से लिखती है, तो उसमें कुछ और बात पैदा हो जाती है; उस कवि से पूछिए, जो किसी आल इण्डिया-कवि सम्मेलन के लिए एक कविता लिख रहा है। उसकी इच्छा यही होगी कि अपनी आत्मा का सारा वैभव इस कविता पर लुटा दे।.....जब हमारे साहित्यकारों के सामने केवल अपना प्रान्त नहीं, वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र होगा, तब वह पूर्ण मनोयोग और पूरी तैयारी और उत्कट साधन के साथ साहित्य की रचना करेगा।''[32]

'इन्दौर हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, 1935' में एक महत्त्वपूर्ण बात हुई, जिसकी चर्चा प्रेमचंद ने जैनेन्द्र कुमार के पत्र के माध्यम से की है, "भिन्न-भिन्न भाषाओं के माध्यम से जो साहित्यकार अन्तर प्रान्तीय और भारतवर्षीय होने योग्य साहित्य प्रस्तुत कर रहे हैं। उन सब में परस्पर परिचय, विचार-विनिमय भी जरूरी है। अन्यथा राष्ट्र के जीवन में और साहित्य में ऐक्य कैसे आवे।''[33] अखिल भारतीय साहित्य की चिन्ता यहाँ भी दिखाई पड़ रही है।

TH8406

नेहरू जी ने इच्छा जाहिर कि थी कि भारतीय लेखक अंतर्राष्ट्रीय लेखक संगठनों से जुड़ें। 'इन्दौर हिन्दी साहित्य सम्मेलन', 1935 में ऐसी चर्चा हुई। प्रेमचंद ने लिखा है, "एक प्रस्ताव-द्वारा साहित्यिकों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था पी० इ० एन० (पेन) में सम्मिलित होने का अनुरोध हिन्दी-साहित्यकारों से किया गया है। यह सब सम्मेलन के पक्ष में दृष्टिकोण के विस्तार के प्रमाण हैं और मैं उनका स्वागत करता हूँ।"[34]

1936 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का जलसा नागपुर में हुआ। जलसा होने के पहले ही जनवरी 1936 में प्रेमचंद ने अपील की, "हमारे विचार में सम्मेलन को अबकी केवल हिन्दी साहित्य सम्मेलन न होकर ऑल इण्डिया साहित्य सम्मेलन बनने की चेष्टा करनी चाहिए।.....हमें इस वक्त साहित्य की प्रगति के विषय में भारत के सभी महारथियों से परामर्श करके अपनी कोई नीति स्थिर कर लेनी चाहिए। अन्यत्र हम लंदन की एक साहित्य-सभा का मेनिफेस्टो प्रकाशित कर रहे हैं। उस पर भी सम्मेलन को विचार करना चाहिए। सम्मेलन में व्यक्तिगत रूप से निबंध पढ़ देने से साहित्य की प्रगति को कोई दिशा नहीं मिल सकती।..... .प्रगतिशील और अप्रगतिशील साहित्य में क्या अंतर है, इस पर खूब गौर करके उसे अपना निर्णय देना चाहिए.....।"[35]

प्रेमचंद निरंतर प्रयास कर रहे थे कि लेखकों का संगठन तैयार हो और पुरानी साहित्यिक संस्थाओं से अपील कर रहे थे कि वे प्रगतिशील और विस्तृत दृष्टिकोण अपनाएँ। भारत की तमाम भाषाओं, और खासकर, हिन्दी-उर्दू की एकता का प्रयास करें। अपने ऐसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रेमचंद ने अक्टूबर, 1935 से हंस को 'भारतीय साहित्य परिषद्' का मुख पत्र बनाना स्वीकार किया। हिन्दी को अखिल भारतीय व्यक्तित्व प्रदान करना इसका उद्देश्य था। भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य को 'हंस' के माध्यम से हिन्दी में पढ़ा जा सके, ऐसा प्रयास किया जाने लगा। यही कारण है कि 1936 के 'हंस' के अंकों में विभिन्न भारतीय भाषाओं की अनूदित रचनाएँ भारी संख्या में छपती थीं।

प्रेमचंद 8 मार्च 1936 को 'हिन्दुस्तानी सभा' के उद्घाटन के लिए दिल्ली गए। अप्रैल, 1936 के हंस में उन्होंने लिखा, "हिन्दुस्तान में शायद यह पहला मौका था कि 8 मार्च को देहली की जामिया मिल्लिया में देहली के उर्दू और हिन्दी अदीबों और साहित्यकारों ने मिलकर एक हिन्दुस्तानी सभा की बुनियाद डाली, जिसका उद्देश्य यह होगा कि वह दोनों साहित्यिकों को एक-दूसरे के समीप लायें, उनके अदीबों में मुहब्बत, हमदर्दी और एकता पैदा करे, उन्हें एक-दूसरे के विचारों और भावों को जानने और समझने का मौक़ा दे, और हिन्दुस्तानी भाषा के विकास का आयोजन करे।"[36]

DISS 0,152 N36 152 Po

12, 13 और 14 जनवरी, 1936 को 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' का सालाना जलसा इलाहाबाद में हुआ, लेकिन हिन्दी-उर्दू को पास लाने का सपना पूरा न हो सका। इस जलसे में तो हिन्दी और उर्दू के भेद को फिर से पुख्ता बनाया गया। वहाँ पुरातनपंथियों की जीत हुई। प्रेमचंद भी उपस्थित थे, फरवरी'36 में उन्होंने लिखा, "..... .....साहित्यकारों का अच्छा सम्मेलन था। उन्हें उर्दू और हिन्दी दो विभागों में कर दिया गया था। उर्दू विभाग के सद्र मौलाना अब्दुल हक़ साहब थे और हिन्दी विभाग के सद्र डॉ० गंगानाथ झा थे। दोनों विभागों में कई अच्छे-अच्छे विद्वता और गवेषणा और खोज से भरे हुए लेख पढ़े गए, मगर दोनों सम्मेलनों के अलग-अलग

होने के कारण श्रोताओं को सारे निबंधों को सुनने का अवसर न मिला।.....उर्दू और हिन्दी विभाग को अलग-अलग कर देने से एक और हानि यह हुई कि उर्दू और हिन्दी के बीच में जो दीवार खड़ी होती जा रही है, वह और भी ऊँची हो गई।''[37]

प्रेमचंद अपनी बात कहने को बेचैन थे। इसी बीच उन्हें 1935 ई० में लंदन में स्थापित 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' का मैनिफेस्टो प्राप्त हुआ। जनवरी, 1936 के 'हंस' में उस मैनिफेस्टों के कुछ अंश को प्रेमचंद ने प्रकाशित किया, "भारतीय समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं और एक नए समाज का जन्म हो रहा है। भारतीय साहित्यकारों का धर्म है कि वे भारतीय जीवन में पैदा होने वाली क्रांति को शब्द और रूप दें और राष्ट्र की उन्नति के मार्ग पर चलाने में सहायक हों। भारतीय साहित्य पुरानी सभ्यता के नष्ट हो जाने के बाद से, जीवन की यथार्थताओं से भागकर उपासना और भक्ति की शरण में जा छिपा है। नतीजा यह हुआ कि वह निस्तेज और निष्प्राण हो गया है, रूप में भी और अर्थ में भी। आज हमारे साहित्य में भक्ति और वैराग्य की भरमार हो गई है। भावुकता का ही प्रदर्शन हो रहा है, विचार और बुद्धि का एक तरह से बहिष्कार कर दिया गया है। पिछली दो सदियों में, विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया है जो हमारे साहित्य का लज्जास्पद काल है। इस सभा का उद्देश्य अपने साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों, पंडितों और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकालकर उन्हें जनता के निकटतम संसर्ग में लाना, उनमें जीवन और वास्तविकता लाना है, जिससे हम अपने भविष्य को उज्ज्वल कर सकें। हम भारतीय सभ्यता की परंपराओं की रक्षा करते हुए अपने देश की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों की निर्दयता से आलोचना करेंगे, जिससे हम अपनी मंजिल पर पहुँच सकें। हमारी धारणा है कि भारत के नए साहित्य को हमारे वर्तमान जीवन के मौलिक तथ्यों का समन्वय करना चाहिए और वे हैं: हमारी रोटी का, हमारी दरिद्रता का, हमारी अवनति का और हमारी राजनीतिक पराधीनता का प्रश्न। तभी हम इन समस्याओं को समझ सकेंगे और तभी हममें क्रियात्मक शक्ति आएगी। वह सब कुछ जो हम में समीक्षा की मनोवृत्ति लाता है, जो हमें प्रियतम रूढ़ियों को भी बुद्धि की कसौटी पर कसने के लिए प्रोत्साहित करता है, जो हमें कर्मण्य बनाता है और हम में संगठन की शक्ति लाता है, उसी को हम प्रगतिशील समझते हैं।''[38]

प्रेमचंद को यह संघ विचारों की दृष्टि से पसंद आया। उन्हें मानो अपने कार्यक्रम के अनुकूल एक संगठन मिला। 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' ने कुछ प्रस्ताव स्वीकार किए थे, प्रेमचंद ने मैनिफेस्टो के साथ उन प्रस्तावो को भी प्रकाशित किया; हालाँकि वे लिपि बदलने के प्रस्ताव से असहमत थे–

1. भारत के भिन्न-भिन्न भाषा-प्रान्तों में लेखकों की संस्थाएँ बनाना, उन संस्थाओं में सम्मेलनों, पैम्फ्लेटों आदि द्वारा सहयोग और समन्वय पैदा करना। प्रान्तीय, केन्द्रीय और लंदन की संस्थाओं में निकट संबंध स्थापित करना।
2. उन साहित्यिक संस्थाओं से मेल-जेल पैदा करना, जो इस सभा के उद्देश्यों के विरुद्ध न हों।
3. प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि और अनुवाद करना, जो कलात्मक दृष्टि से भी निर्दोष हो, जिससे हम

सांस्कृतिक अवसाद को दूर कर सकें और भारतीय स्वाधीनता और सामाजिक उत्थान की ओर बढ़ सकें।

4. हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा और इंडो-रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि स्वीकार कराने का उद्योग करना।

5. साहित्यकारों के हित की रक्षा करना, उन साहित्यकारों की सहायता करना, जो अपनी पुस्तकें प्रकाशित कराने के लिए सहायता चाहते हों।

6. विचार और राय को आज़ाद करने के लिए प्रयत्न करना।''[39]

चौथे दशक में अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर चलने वाली परिवर्तनकामी लहर का असर हिन्दी समाज और साहित्य के सोच-विचार पर पड़ रहा था। प्रेमचंद, सत्यजीवन वर्मा, जवाहरलाल नेहरू, सज्जाद जहीर, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी आदि के द्वारा प्रयास किया जा रहा था कि भारत की विभिन्न भाषाओं का आपस में मेल-जोल बढ़ाया जाए। इनके साहित्य को एक-दूसरे के करीब लाया जाए, हिन्दी का विकास राष्ट्रभाषा के रूप में हो, हिन्दी साहित्य को अखिल भारतीय साहित्य का चरित्र प्रदान किया जाए। इसके लिए ज़रूरी था कि प्रान्तीयता, रीतिवादिता, मध्यकालीनता आदि पुराने मूल्यों से मुक्त होकर राष्ट्रीयता-अंतर्राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता, आधुनिकता आदि मूल्यों से साहित्य को जोड़ा जाए।

हिन्दुस्तान के प्रगतिशील लेखक विभिन्न तरीकों से 'सुंदरता की कसौटी' को नया बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। ऊपर के विवेचन में प्रेमचंद, जवाहरलाल, सत्यजीवन वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, साहित्य-सम्मेलन आदि से जुड़े उद्धरणों तथा तथ्यों को रखकर प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है कि 1936 ई० को यथार्थवाद के केन्द्रीय वर्ष के रूप में स्थापित होने का संयोग क्यों प्राप्त हुआ? 1936 में भारतीय इतिहास की कोई ऐसी महत्वपूर्ण परिवर्तनकारी घटना नहीं घटी, जिसने पूरे भारत को हिलाकर रख दिया हो। पूरा चौथा दशक परिवर्तन के दौर से गुज़र रहा था, जिसके प्रमाणस्वरूप मैंने अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्थितियों का संक्षिप्त विश्लेषण किया है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लेखक-संगठन बनाने का उद्देश्य था-साम्राज्यवाद, फासीवाद और विश्वयुद्ध-का विरोध। लेखन के जरिए इन तीनों के ख़िलाफ लोगों में चेतना पैदा करके जनमत तैयार करना। इस प्रयास के पीछे मार्क्सवादी विचारधारा और सोवियत रूस की प्रेरणा स्पष्ट तौर पर काम कर रही थी।

भारत में लेखक-संगठन बनाने का उद्देश्य इनसे थोड़ा भिन्न दिखता है। अखिल भारतीय साहित्य और राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा को स्थापित करना इनका मुख्य उद्देश्य था। इस प्रयास में लगे हुए साहित्यकार और बुद्धिजीवी साहित्य की प्रगतिशीलता के मुद्दे पर भी एकमत थे। साहित्य को जनोन्मुख बनाना जरूरी हो चला था ताकि स्वतंत्रता की चेतना पूरे देश में फैलायी जा सके। स्वतंत्रता आंदोलन को तेज़ करने में साहित्य की भूमिका को तभी महत्वपूर्ण बनाया जा सकता था, जब साहित्य पूरे देश में समझी जाने लायक भाषा में लिखा जाए। लेखकों के अधिकारों की रक्षा का प्रयास भी इस संगठन का उद्देश्य था।

भारत में लेखक-संगठन बनाने का जो प्रयास चल रहा था, उसका सम्बन्ध अंतर्राष्ट्रीय प्रयासों से किस तरह

जुड़ा है, इसे देखना चाहिए। इससे पहले यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि लेखक-संगठन की ज़रूरत भारतीय साहित्य की अपनी ज़रूरत बन गई थी। इसके लिए उसे कहीं दूसरी जगह से नकल की ज़रूरत नहीं थी। प्रेरणा प्राप्त करना अच्छी बात है, परन्तु अनावश्यक रूप से कहीं की चीज़ को कहीं लाकर स्थापित करने का प्रयास उचित नहीं है।

भारतीय लेखक-संगठन के लिए प्रयासरत लेखक और बुद्धिजीवी भी साम्राज्यवाद, फासीवाद और विश्वयुद्ध के समर्थक नहीं थे। उपर्युक्त उद्धरणों में कई जगहों पर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के खिलाफ स्वतंत्रता की माँग की गई है। अखिल भारतीय साहित्य और राष्ट्रभाषा की माँग के पीछे राष्ट्रीय चेतना और स्वतंत्रता संग्राम को तेज़ करने की मंशा स्पष्ट है। फासीवाद से तत्कालीन भारतीय समाज ज़्यादा आक्रांत नहीं था। विश्वस्तर पर हिटलर और मुसोलिनी के द्वारा नाजीवाद और फासीवाद का जो नंगा नाच नचाया जा रहा था, वैसी सीधी स्थिति भारतीय समाज में नहीं थी। फिर भी, रीतिवाद के रूप में जो प्रतिगामी शक्तियाँ सक्रिय थीं, उनका कड़ा विरोध लेखक-संगठन के निर्माणकर्ताओं ने किया। ये लेखक-संगठन हर तरह की प्रतिगामिता, चाहे वह धर्म या रीति के रूप में हो, के विरुद्ध प्रगतिशीलता का संकल्प रख रहे थे। ब्रेसेल्स के विश्वशांति सम्मेलन में भारत के लेखकों और बुद्धिजीवियों की तरफ से जो प्रस्ताव भेजा गया था, उसमें हर तरह के युद्ध का विरोध किया गया। उस प्रस्ताव पर **प्रेमचंद** और **रवींद्रनाथ टैगोर** के हस्ताक्षर थे। ध्यातव्य है कि **'प्रगतिशील लेखक संघ'** के 1936 और 1938 के अधिवेशनों के सभापति क्रमशः **प्रेमचंद** और **रवींद्रनाथ टेगौर** चुने गए थे।

इस तरह भारत के लेखक-संगठन विश्व के लेखक-संगठनों के उद्देश्यों से सहमत थे। भारतीय जमीन की अपनी ज़रूरत के तहत ये लेखक-संगठन बनाए गए, किंतु अंतर्राष्ट्रीय लेखक-संगठनों से इनका कोई अंतर्विरोध नहीं था।

चालीस के दशक की परिस्थितियों ने हिन्दी साहित्य की यथार्थवादी धारा को पूरी तरह उभरने और स्थापित होने का अवसर प्रदान किया। स्वतंत्रता आंदोलन ने जन-जन में आज़ादी के प्रति जागरूकता पैदा की। अपने देश, अपनी मिट्टी, अपनी प्रकृति, अपनी भाषा, अपना साहितय आदि के लिए चेतना और इच्छा शक्ति पैदा हुई। मज़दूरों और किसानों ने राजनीतिक रूप से जागकर बता दिया कि हम बहुसंख्यक हैं, हमारी उपेक्षा मत करो; हम सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्रियों ने विश्वस्तर पर संगठित होना शुरू किया, वे पुरुष से मुक्त स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में समाज का अंग बनना चाहने लगीं। अर्थव्यवस्था के रूप में समाजवादी अर्थव्यवस्था ज़्यादा सक्षम सिद्ध हुई, क्योंकि अमेरिका की पूँजीवादी व्यवस्था 1929 की व्यापद मंदी का शिकार हो चुकी थी। समाजवादी सोवियत रूस एक मज़बूत मानवतावादी देश के रूप में गुलाम देशों की जनता के लिए आकर्षण का विषय था। प्रथम विश्वयुद्ध ने साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रति पूरी दुनिया में नकारात्मक रवैया उत्पन्न कर दिया था। साम्राज्यवाद की नस्लवादी श्रेष्ठता का दावा खोखला सिद्ध हो चुका था।

इन तमाम परिस्थितियों ने लेखकों को यथार्थवादी साहित्य की तरफ मुड़ने को प्रेरित किया। सामाजिक सच से टकराने की जरूरत महसूस की जाने लगी। कल्पना, भावुकता, धर्म, नीति, महिमा, आदर्श की बातें अधूरी,

झूठी और अनुपयोगी मालूम पड़ने लगीं। सचेत रचनाकारों ने यथार्थवाद का रास्ता पूरी मज़बूती से अपनाया। इस दौर में यथार्थवाद की तुलना छायावाद और आदर्शवाद से की जाने लगीं। छायावाद के कवियों ने भी इसी दौर में विभिन्न तरीकों से यथार्थवाद पर विचार किया। यह महज संयोग नहीं है कि छायावाद के महान कवि जयशंकर प्रसाद को भी 1937 में यथार्थवाद पर विचार करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। उन्होंने **'यथार्थवाद और छायावाद'** नामक निबंध में यथार्थवाद के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है और इसकी परंपरा **भारतेंदु** हरिश्चंद्र के साहित्य तक में ढूँढ़ ली है, **"श्री हरिश्चंद्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का भी चित्रण आरंभ किया है। 'प्रेमियोगिनी' हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी में समझता हूँ।.....अव्यवस्था वाले युग में देव-व्याज से मानवीय भाव का वर्णन करने की जो परंपरा थी, उससे भिन्न सीधे-सीधे मनुष्य के अभाव और उसकी परिस्थिति का चित्रण भी हिन्दी में उसी समय आरंभ हुआ।''**[40]

प्रसाद ने अपने युग की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ बताईं, **"हिन्दी के वर्तमान युग की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें यथार्थवाद और छायावाद कहते हैं।''**[41]

इस निबंध में छायावाद पर ज़्यादा चर्चा हुई है, पर महत्वपूर्ण यह है कि 1937 में प्रसाद यथार्थवाद को प्रमुख प्रवृत्ति मानकर उसके स्वरूप का विश्लेषण कर रहे हैं, **"यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात।.....साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान दिखलाई पड़ने लगा। उस व्यापक दुःख संवलित मानवता को स्पर्श करने वाला साहित्य यथार्थवादी बन जाता है। इस यथार्थवादिता में अभाव, पतन और वेदना के अंश प्रचुरता से होते हैं।''**[42]

प्रसाद ने इस निबंध में दिखलाया है कि यथार्थवाद की ज़रूरत समाज में बहुत पहले से थी; भारतेंदु के समय से उसकी साहित्यिक अभिव्यक्ति हो चली थी जो आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। यथार्थवाद के साहित्य में आने का मतलब है जनसामान्य का साहित्य में प्रवेश। प्रसाद ने उदाहरण देकर या विस्तार से या बिल्कुल खुलकर यथार्थवाद का विश्लेषण नहीं किया है, बल्कि सांकेतिक शब्दावली का इस्तेमाल ज़्यादा किया है। **'साधारण मनुष्य', 'क्षुद्रता', 'अकिंचन', 'लघुता', 'अभाव', 'पतन'** आदि शब्द निश्चित रूप से प्रगतिवादी प्रवृत्तियों से मिलते-जुलते हैं। इनका संबंध उस दौर के प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ सकता है। प्रसाद ने **'प्रगतिशील लेखक संघ'** या **'प्रगतिवाद'** की चर्चा तक नहीं की है, किंतु यथार्थवाद की चर्चा करते हुए वे इनसे अनजान मालूम नहीं पड़ते। इसी तरह **'युगवाणी'** की चर्चा करते हुए आचार्य **रामचंद्र शुक्ल** ने, **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** में **'प्रगतिवाद'** या **'प्रगतिशील लेखक संघ'** का नाम तक न लेने के बावजूद, इनके संबंध में अपनी जागरूकता के पर्याप्त संकेत छोड़ दिए हैं।

सुमित्रानंदन पंत ने **'युगांत'** की कविताओं में परिवर्तनों को रेखांकित किया है–

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,

हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण!

हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,

तुम वीतराग, जड़, पुराचीन!!

अगले अध्यायों में साहित्यिक रचनाओं के प्रमाणों से देखा जाएगा कि चालीस के दशक के परिवर्तनकामी माहौल का असर परस्पर कैसे पड़ रहा था। हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में इन परिवर्तनों को लक्षित किया जा सकता है। उस दौर की साहित्यिक बहसों में भी यही चेतना दिखाई पड़ती है।

अब हमारा मुख्य प्रश्न यह है कि परिवर्तनकामी चौथे दशक के केन्द्रीय वर्ष के रूप में 1936 को कैसे रेखांकित किया जाए। 1936 की साहित्यिक कृतियों को अगले अध्यायों में रखते हुए देखा जाएगा कि वे किस तरह इन परिवर्तनों को लक्षित कर रही थीं। 1936 में हिन्दी की महान् रचनाएँ हमारे सामने आती हैं। इस वर्ष छायावाद और यथार्थवाद दोनों की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुईं। महत्त्वपूर्ण यह है कि इन छायावादी रचनाओं में भी परिवर्तन के संकेत दिखाई पड़ने लगते हैं, उन पर भी यथार्थवाद का असर मौजूद है।

इस परिवर्तकामी दौर के केन्द्रीय वर्ष के रूप में 1936 के स्थापित होने के दो मुख्य कारण है–प्रगतिवाद की शुरुआत और छायावाद का अंत। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के पहले अधिवेशन ने प्रगतिवाद को स्थापित किया और 'युगांत' के प्रकाशन ने छायावाद के अंत की घोषणा की। ये दोनों काम 1936 में हुए। छायावाद के अंत और प्रगतिवाद की शुरुआत का मतलब था-हिन्दी साहित्य को यथार्थवाद की दिशा में मोड़ना। चौथे दशक की तमाम परिवर्तनकामी शक्तियों की साहित्यिक अभिव्यक्ति को अब हिन्दी में पूरा मौका और समर्थन मिला।

'प्रगतिशील लेखक संघ' का पहला अधिवेशन 9-10 अप्रैल को 'रिफाहे आम हॉल', लखनऊ में हुआ। 12-14 अप्रैल को लखनऊ में ही काँग्रेस का भी अधिवेशन होने वाला था। अत: हजारों कार्यकर्त्ता लखनऊ पहुँचे थे। डॉ० रेखा अवस्थी ने लिखा है, **"पूरा देश नई ताक़त से और नए नेतृत्व में आज़ादी की लड़ाई को व्यापक बनाने को अधीर था। ऐसे मौक़े पर किसानों का संगठन बन रहा था; छात्रों का संगठन बन रहा था। और उसके साथ लेखकों का भी संगठन बन रहा था। गाँधीवाद से मोहभंग और समाजवादी विचारधारा के प्रसार और उसके प्रति उत्साह के वातावरण में हिन्दी और उर्दू के साहित्यकारों, बोलियों और प्रादेशिक भाषाओं के रचनाकारों, पत्रकारों और बुद्धिजीवियों ने बहुत बड़ी संख्या में लखनऊ के इस पहले प्रगतिशील लेखक सम्मेलन का स्वागत किया।"**[43]

इस तरह लेखक-संगठन बनाने के प्रयासों की पूर्ति 'प्रगतिशील लेखक संघ' के रूप में हुई। सज्जाद जहीर, मुल्कराज आनंद, भवानी भट्टाचार्य जैसे नवयुवकों के प्रयासों से यह लेखक संघ अस्तित्व में आया। इसका मुख्य केन्द्र इलाहाबाद को बनाया गया। लेखक संघ को संगठित करने में सज्जाद जहीर को प्रेमचंद, पंत, फिराक, डॉ० एजाज हुसैन आदि का सहयोग मिला।

'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना और उसके प्रथम अधिवेशन में पारित प्रस्तावों ने हिन्दी साहित्य की यथार्थपरक प्रवृत्ति को विकसित होने का विस्तृत मार्ग प्रदान किया। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के बिना यह प्रवृत्ति

शायद कुछ और वर्षों तक दबी रहती। पर इतना तय है कि इसके बिना भी हिन्दी साहित्य यथार्थवाद की तरफ ही मुड़ता, तब इसके स्वरूप में थोड़ा अंतर भले ही होता। प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य को जनसाधारण से जोड़ने में अहम् भूमिका निभायी। इसने पहली बार लेखकों को समझाया कि रचना में शक्ति जनता से आती है। व्यक्तिवादी ढंग की रचनाएँ व्यक्तिमन को केवल व्यक्तिगत स्तर पर प्रभावित भले ही कर लें, पर ऐसी रचनाओं का कोई व्यापक सामाजिक असर नहीं हो सकता। प्रगतिवाद स्पष्ट तौर पर मार्क्सवाद से जुड़ा था, अत: यह पूँजीवाद, सामंतवाद, साम्राज्यवाद, पुरोहितवाद आदि के ख़िलाफ था। ये तमाम ताक़तें भारतीय समाज की समस्याएँ थीं। हिन्दी के अनेक लेखक 1936 के पहले भी इन ताकतों के खिलाफ और जनता के साथ थे। पर प्रगतिवाद ने मार्क्सवाद और सोवियत रूस के उदाहरण के माध्यम से हिन्दी के लेखकों को इन ताकतों के खिलाफ लड़ने की अतिरिक्त उर्जा दी।

प्रगतिवाद ने साहित्य के कलावादी मोर्चे के असामाजिक और सुविधाभोगी दृष्टिकोण का पर्दाफाश किया। उसने साहित्य को समाज के शत्रुओं के ख़िलाफ खड़ा करने का व्यापक प्रयास किया। प्रगतिवाद भाषा की चिंता दूसरे ढंग से करता है; उसने हिन्दी साहित्य, और ख़ासकर हिन्दी कविता, को संघर्ष की भाषा दी है। प्रगतिवाद कलात्मक भाषा की वकालत नहीं करता; वह साहित्य को, जनता की भाषा में व्यक्त होकर, जनता के शत्रुओं के ख़िलाफ एक हथियार के रूप में देखना चाहता है। प्रगतिवाद साहित्य के कलात्मक और भाषागत सौंदर्य को भी संघर्ष के साधन के रूप में देखना चाहता है, महज सौंदर्य के रूप में नहीं।

प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य को विधिवत् यथार्थवाद की दिशा में मोड़ दिया। उसने पहली बार रचनाकारों को देश-दुनिया और अपने आस-पास के जन-संकुल वातावरण से जुड़ने पर सबसे ज़्यादा ज़ोर दिया। समस्याओं को विश्व स्तर पर देखने की समझ का विकास इसने किया।

प्रेमचंद का कथा-साहित्य इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी का सौंदर्यबोध क्रमश: बदल रहा था। **'सुंदरता की कसौटी'** को बदलने में प्रेमचंद सदैव लगे रहे और अपने जीवन के अंतिम वर्ष में लोगों से उन्होंने अपील की कि आप की बदलें।

1936 का वर्ष हिन्दी साहित्य के इतिहास में **'सुंदरता की कसौटी'** को बदलने की ज़रूरत के रूप में जाना जाता है। सुंदरता की ऐसी कसौटी बनाओ कि उसमें अधिक-से-अधिक लोगों की संवेदनाओं को जगह दी जा सके। हिन्दुस्तान मज़दूर-किसानों का है, अत: हिन्दी साहित्य उनसे जुड़कर ही अखिल भारतीय रूप ग्रहण कर सकता है। हिन्दी को भारत की राष्ट्रभाषा बनना है तो उसे पूरे भारत को व्यक्त करना होगा। हिन्दी को जनता की भाषा से अपना नया जनवादी रूप ग्रहण करना होगा। 1936 इन तमाम संकल्पों का वर्ष है।

संदर्भ

1. प्रेमचंद –साहित्य का उद्देश्य, पृ० 14

2. अमृतराय –प्रेमचंद : कलम का सिपाही, पृ० 578

3. वही, पृ० 608-609

4. प्रेमचंद–साहित्य का उद्देश्य, पृ० 12

5. वही, पृ० 16-17

6. प्रो० बिपिन चंद्र–आधुनिक भारत, पृ० 220

7. प्रो० बिपिन चंद्र–भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ० 234

8. 'चाँद' मासिक–मई 1936, संपादकीय, पृ० 102

9. जवाहरलाल नेहरू–मेरी कहानी, पृ० 838

10. प्रो० बिपिन चंद्र–भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ० 162

11. बाबा साहब डॉ० अम्बेडकर संपूर्ण वाङ्मय, भाग-10, पृ० 264-265

12. वही, पृ० 267

13. वही, पृ० 276-277

14. वही, पृ० 286

15. वही, पृ० 289

16. वही, पृ० 301-302

17. 'विशाल भारत' मासिक-मार्च 1936, पृ० 329

18. वही, पृ० 329

19. वही, पृ० 330

20. वही, पृ० 332

21. प्रेमचंद–विविध प्रसंग, खंड-3, संपादक-अमृतराय, पृ० 130

22. वही, 130

23. वही, 130

24. वही, 131

25. वही, 93

26. वही, पृ० 119

27. वहीं, पृ० 131-132

28. वही, पृ० 132-133

29. वहीं, पृ० 105

30. वही, पृ० 106

31. वही, पृ० 107

32. वही, पृ० 99

33. वही, पृ० 96

34. वही, पृ० 96

35. वही, पृ० 138

36. अमृतराय–प्रेमचंद: कलम का सिपाही, पृ० 580

37. प्रेमचंद–विविध प्रसंग, खंड-3, सं०–अमृतराय, पृ० 316

38. वही, पृ० 136-137

39. वही, पृ० 137

40. जयशंकर प्रसाद-प्रसाद ग्रंथावली (प्रसाद वाङ्मय, खंड-4), सं०-रत्नशंकर प्रसाद, पृ० 522

41. वही, पृ० 522

42. वही, पृ० 522-523

43, रेखा अवस्थी-प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, पृ० 15

अध्याय-दो

कविता

अध्याय-दो

कविता

चौथे दशक के यथार्थवादी रुझान का हिन्दी कविता पर, दूसरी विधाओं की तुलना में, ज़्यादा असर पड़ा। हिन्दी की गद्य विधाएँ सामाजिक यथार्थ से प्रत्यक्षत: जुड़कर विकसित हुई थीं। कहानी और उपन्यास जैसी प्रमुख गद्य विधाओं की कथावस्तु शुरू से ही प्राय: यथार्थवादी हुआ करती थी। आधुनिक भावबोध से उत्पन्न होने के कारण कहानी-उपन्यास को रोमानियत से मुक्त होने तथा यथार्थवाद को अपनाने के लिए प्राय: कठिन संघर्ष नहीं करना पड़ा। हिन्दी गद्य की सामाजिकता और यथार्थवादिता के सशक्त प्रमाण **प्रेमचंद** के उपन्यास तथा उनकी कहानियाँ हैं। इस तरह चौथे दशक में साहित्य की जो नई संस्कृति बन रही थी, उसके निर्माण में हिन्दी के गद्य साहित्य का प्रत्यक्ष योगदान है।

हिन्दी कविता छायावाद के दौर से गुज़र रही थी, अत: उसमें कल्पना, भावुकता, कोमल भाषा, प्रकृति आदि की प्रमुखता थी। फिर भी, छायावाद की प्रमुख कविताओं में यथार्थवाद की एक धारा दिखाई पड़ती है, जिसका विकास हिन्दी कविता में उत्तरोत्तर आज तक होता गया है। 1936 ई० के आस-पास की हिन्दी कविताओं में सामाजिक सच्चाइयों के प्रति जागरूकता बढ़ने लगी थी। छायावाद से इतर लिखी जाने वाली कविताओं में भी यह जागरूकता है। 1936 की हिन्दी पत्रिकाओं में ऐसी अनेक कविताएँ बिखरी पड़ी हैं, जिनमें समाज का यथार्थबोध तथा चौथे दशक की परिवर्तनकामी चेतना कूट-कूट कर भरी है। गुणवत्ता की दृष्टि से देखें, तो 1936 की कविताओं में ज़्यादा संख्या छायावादी कविताओं की है। इन छायावादी कविताओं में साहित्य की बदलती और बनती हुई नई संस्कृति की पहचान करना इस अध्याय का उद्देश्य है। विवेच्य वर्ष में छायावाद की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुईं। अत: छायावाद को ध्यान में रखकर साहित्य की नई संस्कृति के स्वरूप पर विचार करना होगा।

प्रगतिशील आंदोलन के असर से लिखी गई हिन्दी कविताओं में परितर्वनकामिता ज़्यादा दिखाई पड़ती है। चौथे दशक की हिन्दी कविता में छायावादी दौर से जो परिवर्तन और जनवाद की धारा चली, उसको प्रगतिशील आंदोलन से गति मिली। छायावादी कवियों, खासकर पंत, ने इस परिवर्तन का खुलकर समर्थन किया। 'युगांत' (1936) और 'युगवाणी' (1939) की कविताओं में परिवर्तन, का भरपूर स्वागत किया गया है। हालाँकि अनेक जगहों पर कोरा सैद्धान्तिक समर्थन ही दिखाई पड़ता है। ऐसी कविताएँ निर्जीव मालूम पड़ती हैं, उनमें कथ्य और कला का भावपूर्ण समायोजन नहीं हो पाया है; जिसके कारण अभिव्यक्ति कमज़ोर हो गयी है। किंतु 'युगांत' और

'युगवाणी' की अनेक कविताएँ चौथे दशक की परिवर्तनकामी चेतना को रेखांकित करने में सक्षम हैं।

1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' और 'युगांत' के माध्यम से घोषणा की गयी कि छायावाद का अंत हो गया है। इसके बावजूद यह तथ्य है कि इसी वर्ष छायावाद की अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ छपीं। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' जैसा महाकाव्य इसी वर्ष की उपलब्धि है। देव-सृष्टि के ध्वंस और मानव-सभ्यता के विकास की मिथकीय कथा के आधार पर आधुनिक मनुष्य के यथार्थबोध से टकराने का प्रयास 'कामायनी' में हुआ है। इसमें पूँजीवादी व्यवस्था और लोकतंत्र के माहौल में स्त्री-पुरुष तथा अन्य सामाजिक संबंधों का विश्लेषण किया गया है। निष्कर्ष के तौर पर छायावादी होते हुए भी 'कामायनी' विश्लेषण के तौर पर यथार्थवादी है। मुक्तिबोध ने 'कामायनी: एक पुनर्विचार' नामक अपनी पुस्तक में कामायनी के यथार्थबोध का गंभीर और प्रामाणिक विश्लेषण किया है।

निराला की लंबी कविताएँ 'राम की शक्तिपूजा' और 'सरोज-स्मृति' का प्रकाश-वर्ष 1936 है। 'राम की शक्तिपूजा' मनुष्य की उत्कट जिजीविषा की कविता है तो 'सरोज-स्मृति' शोक की पृष्ठभूमि में लिखी गई यथार्थवादी कविता है। महादेवी वर्मा के कविता-संग्रह 'सांध्यगीत' को उनके निबंध-संग्रह 'शृंखला की कड़ियाँ' (1942 ई०) से जोड़कर देखा जाए, तो उसका संबंध नारीवादी आंदोलनों और विचारधारा से काफी करीब का है। 'शृंखला की कड़ियाँ' के अधिकांश निबंध चौथे दशक में ही लिखे गए, जो 'चाँद' में प्रकाशित हुए थे। महादेवी वर्मा 1935 में 'चाँद' की संपादक भी बनीं।

इस वर्ष की छायावादी रचनाओं के माध्यम से हम देख सकते हैं कि छायावाद अपने अंतिम साल में किस स्थिति में था। इन रचनाओं के विश्लेषण से यह भी देखा जा सकता है कि 1936 में छायावाद क्यों सिमटने लगा? युग के हिसाब से छायावाद की कौन-सी असमर्थताएँ प्रकट होने लगीं? छायावादी दृष्टिकोण की कौन-सी कमियाँ थीं, जिनके कारण हिन्दी कविता को यथार्थवाद का रास्ता अपनाना पड़ा?

यह तो विचार हो चुका है कि 'छायावाद का पतन' क्यों हुआ? पर 1936 में लिखित महान् छायावादी रचनाओं के होते हुए भी क्या इस वर्ष को 'छायावाद का पतन' का वर्ष कहा जा सकता है? क्या 'पतन' जैसा शब्द 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा', 'सांध्यगीत' के प्रकाशन-वर्ष के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है? 1936 छायावाद के पतन का वर्ष नहीं है, बल्कि छायावाद का अंतिम उत्कृष्ट वर्ष है; मानो छायावाद अपनी पूर्णता को प्राप्त कर इतिहास में चला गया। पूर्ण होने को 'पतन' होना नहीं कहा जा सकता।

1936 के संदर्भ में देखना होगा कि छायावाद की उत्कृष्ट रचनाओं के दृष्टिकोण में कौन-से परिवर्तन लक्षित हो रहे थे? छायावादी कविताओं की विचारधारात्मक सीमाएँ युगानुकूल रुचि तथा ज़रूरत को समझने में बाधक बन रही थीं। यही कारण है कि छायावादी रचनाओं के भीतर से गैर-छायावादी दृष्टिकोण पैदा होने लगा था। उस वर्ष की छायावादी रचनाओं में छायावाद का परिपक्व रूप दिखाई पड़ता है, दूसरी तरफ छायावादी दृष्टिकोण चुकता हुआ-सा भी मालूम पड़ने लगता है। कुछ रचनाओं में तो छायावाद अपनी उत्कृष्टता पर पहुँचकर यथार्थवाद की तरफ मुड़ता हुआ दिखाई पड़ता है।

हिन्दी के गद्य साहित्य को देखें तो **प्रेमचंद** के नेतृत्व में वह बहुत जल्दी परिपक्व और यथार्थवादी हो गया था। गद्य में भावुकता वैसे भी ज़्यादा नहीं चल पाती है। गद्य का सामाजिक सरोकार शुरू से रहा है। **निराला** के शब्दों में **'गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है'**। व्यक्तिवादी गद्य लेखकों का साहित्य प्राय: भावनाप्रधान, मनोवैज्ञानिक तथा मनोविश्लेषणपरक हुआ करता है, अत: उनके साहित्य में सामाजिक यथार्थ से प्रत्यक्ष टकराव दिखाई नहीं पड़ता। परंतु उनमें व्यक्ति के स्तर का यथार्थवाद पूरी मज़बूती से हुआ करता है। **जैनेन्द्र** के उपन्यासों में व्यक्ति के स्तर का यथार्थ मनोविश्लेषण मिलता है, जबकि **प्रेमचंद** के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ है।

प्रेमचंद 'सेवासदन' (1918) से लेकर **'गोदान'** (1936) तक यथार्थवाद को अपनाने के लिए प्रयत्नशील रहे। ध्यातव्य है कि इन दोनों उपन्यासों के बीच के अठारह वर्ष की अवधि ही छायावाद-युग है। **प्रेमचंद** उत्तरोत्तर यथार्थवादी होते जा रहे थे और छायावाद पर आरोप है कि वह उत्तरोत्तर कल्पना-प्रवण होता जा रहा था। ऐसा क्यों हो रहा था? एक ही भाषा का कथा-साहित्य निरंतर किसान-मजूर, दलित, स्त्री, स्वतंत्रता-आंदोलन आदि से जुड़ता जा रहा था और उसी भाषा की कविता पर आरोप लगता है कि वह अतिशय भावुक और वायवीय हो चली है। इस स्थापना में अंतर्विरोध दिखाई पड़ता है, इसके विश्लेषण तथा इसकी जाँच की जरूरत है।

डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है, **'प्रेमचंद के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'गबन' आदि उपन्यासों का अंत जो सदनों और आश्रमों के आदर्श में हुआ है, उसे छायावादी जीवन-दृष्टि का परिणाम समझना चाहिए।''**[1] **नामवरजी** का मानना है कि इन उपन्यासों के केवल अंत में निर्मित सदनों और आश्रमों पर छायावाद का असर है, पूरे उपन्यास पर नहीं और **'गोदान'** तक आते-आते तो **प्रेमचंद** पर कोई भी छायावादी असर नहीं देखा जा सकता। क्या छायावादी कविता में कोई ऐसा प्रयास दिखाई पड़ता है? इस युग की कविता को थोड़ी देर के लिए **'छायावादी कविता'** न कहकर, हम कहें कि उस युग की **'हिन्दी कविता'** में छायावाद को छोड़ने का **प्रेमचंद**-जैसा कोई प्रयास दिखाई पड़ रहा था? क्या इस प्रयास को अलग-से रेखांकित करके दिखाया जा सकता है कि 1936 में हिन्दी कविता छायावाद को छोड़कर यथार्थवाद की तरफ मुड़ गयी और उत्तरोत्तर यथार्थवादी होती गयी? आलोचकों के द्वारा यह दिखाया जा चुका है कि हिन्दी कविता 1936 तक आते-आते अतिशय भावुक हो गयी थी, क्या यह नहीं दिखाया जा सकता है कि हिन्दी कविता 1936 तक आते-आते यथार्थवाद को पसंद करने लगी थी और उसके बाद क्रमश: यथार्थवाद को ही अपनाती चली गई। **निराला** की **'सरोज-स्मृति'** और **महादेवी** की कविताओं में कई ऐसी बातें हैं जो संकेत दे रही थीं कि हिन्दी कविता अब छायावाद के बदले यथार्थवाद को पसंद करने लगी है।

इस तरह, 1936 ने हिन्दी कविता को भी यथार्थवादी बना दिया। हिन्दी का कथा-साहित्य तो अपेक्षाकृत पहले से यथार्थ जीवन के संघर्षों से जुड़ा था, पर हिन्दी कविता 1936 में पहली बार स्पष्ट तौर पर यथार्थवादी हुई। हिन्दी कविता ने 1936 में अपनी रुचि को ऐसा बदला कि बाद की तमाम हिन्दी कविता का मुख्य स्वर यथार्थवादी हो गया।

'कामायनी' की यथार्थ-चेतना पर मुक्तिबोध ने अपनी पुस्तक **'कामायनी: एक पुनर्विचार'** में विचार किया

है। उन्होंने माना है कि **प्रसाद** ने पूँजीवादी समाज के मध्य-वर्ग की व्यक्तिगत आकांक्षा को '**कामायनी**' में व्यक्त किया है। इस व्यक्तिवाद का प्रधान लक्ष्य है-भोग। मनु के द्वारा इस व्यक्तिवाद की चहुँमुखी अभिव्यक्ति हुई है। मनु सुविधाओं, सुखों और अधिकारों का निर्बाध उपभोग करना चाहता है। इसमें असफलता मिलने पर वह आत्मभर्त्सना करता है और पुनः दूसरे उपायों से सुखभोग की सामग्री जुटाने का प्रयास करता है। पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पन्न मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद अपनी अधिकांश विडम्बनाओं के साथ 'कामायनी' में व्यक्त हुआ है। इस व्यक्तिवाद से ऊबे हुए व्यक्ति और समाज की परिणति '**आनंदवाद**' में दिखाने का प्रयास वस्तुतः एक कोरा सैद्धान्तिक प्रयास है।

ध्यातव्य है कि कामायनी में पूँजीवादी व्यवस्था का यथार्थपरक चित्रण हुआ है, हमारे शोध के संदर्भ में यह बात सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। **प्रसाद** ने इस व्यवस्था का समर्थन किया है या विरोध-इससे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हमारे लिए यह है कि '**कामायनी**' में इस व्यवस्था का यथार्थपरक चित्रण मिलता है। चौथे दशक की महत्त्वपूर्ण चिंताओं में पूँजीवाद भी है। 1936 का साहित्यिक आंदोलन पूँजीवादी संस्कृति के ख़िलाफ़ खड़ा है। इसलिए '36 के साहित्य की संस्कृति के स्वरूप-निर्धारण के लिए '**कामायनी**' का उपर्युक्त दृष्टि से विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है।

मुक्तिबोध के '**पुनर्विचार**' के मूल आधार को उनकी इन पंक्तियों में रखा जा सकता है, "**हमें यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि प्रसाद जी, मनु-आख्यान की फैण्टेसी खड़ी कर, अपनी युग-प्रवृत्तियों को-एक विशेष कालखण्ड के अन्तर्गत पूँजीवादी समाज-रचना के भीतर एक विशेष वर्ग, मध्यवर्ग की प्रवृत्तियों को प्रकट कर रहे हैं।**"[2]

मुक्तिबोध के अनुसार '**कामायनी**' को '**वास्तविक पूँजीवादी समाज-रचना के भीतर पनपनेवाले जीवन-तथ्यों पर घटित**' करके देखना चाहिए। तब पता चलेगा इसमें पूँजीवादी व्यवस्था का कितना यथार्थपरक चित्रण किया गया है। हालाँकि **प्रसाद** पूँजीवादी व्यवस्था को '**इस दुनिया का सार्वभौम चिरकालिक तथ्य ज़रूर मानते हैं**' परिणामस्वरूप उन्हें पूँजीवादी व्यवस्था ही अंतिम व्यवस्था के रूप में जान पड़ती हैं, जिससे छुटकारा पाने का रास्ता वे आनंदवाद में खोजते हैं।

सामंतवादी व्यवस्था की विलास-प्रियता और रूप-सज्जा के कारण मानवीय भावनाओं के गौण पड़ जाने को मुक्तिबोध मनु की प्रवृत्तियों के द्वारा रेखांकित करते हैं, "**ध्यान में रखने की बात है कि मनु देव-सभ्यता के भीतर अपने जीवन के हार्दिक प्रेम-सम्बन्धों की स्मृतियों को जागृत नहीं करता। हृदय-सम्बंध मानो थे ही नहीं। उसे याद आते हैं मात्र विलास-दृश्य, और कुछ नहीं।**"[3] स्त्री-पुरुष-संबंध में शरीर की प्रधानता को मुक्तिबोध ने रेखांकित किया है। भावना, आस्था, विश्वास जैसे मूल्य इन संबंधों में अर्थहीन हो गए। यहाँ केवल 'कर्म का भोग, भोग का कर्म' रह गया है। कर्म का उद्देश्य भोग बन गया है और भोग अपने आप में उनका उद्देश्य है। यह सब पूँजीवादी व्यवस्था की देन है।

प्रसाद ने मनु की कई कमज़ोरियों को दिखाया है, परन्तु उन तमाम कमज़ोरियों के प्रति **प्रसाद** का वास्तविक क्षोभ नहीं दिखाई पड़ता। मनु की आत्म-भर्त्सना के द्वारा वे पाठकों की सहानुभूति बटोरते हैं। यही कारण है कि पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध **प्रसाद** के मन में स्पष्ट और दृष्टियुक्त विरोध नहीं है, "**अधिक-से-अधिक, प्रसाद**

के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उनका दर्शन एक उदार पूँजीवादी-व्यक्तिवादी दर्शन है, जो यदि एक मुँह से वर्ग-विषमता की निन्दा करता है, तो दूसरे मुँह से वर्गातीत, समाजातीत, व्यक्तिमूलक चेतना के आधार पर, समाज के वास्तविक द्वन्द्वों का वायवीय तथा काल्पनिक प्रत्याहार करते हुए, 'अभेदानुभूति' के आनंद का ही संदेश देता है।''[4]

प्रसाद का मनु आधुनिक पूँजीवादी व्यक्तिवाद के स्वार्थों से लैस, गैर-जिम्मेदार और आत्मकेंद्रित होकर सुख भोगने वाला मनुष्य है, जिसकी सामाजिक प्रतिबद्धता व्यक्तिगत दुराग्रहों से कुचल दी गयी है, **''मनु की प्रकृति ठीक उस पूँजीवादी व्यक्तिवाद की प्रकृति है जिसने कभी जन्तन्त्रात्मकता का बहाना भी नहीं किया, केवल अपने मानसिक खेद, अन्तर्विप्लव और निराशा से छुटकारा पाने तथा स्वस्थ-शांत अनुभव करने के लिए श्रद्धा और इड़ा के समान अच्छी साथिनों का सहारा लिया, जो उसके सौभाग्य से उसे प्राप्त भी हुईं।''**[5]

इस प्रकार 'कामयानी' में पूँजीवादी समाज की विसंगतियों को विभिन्न आयामों में रखते हुए प्रसाद ने आधुनिक मनुष्य की विडम्बनात्मक स्थितियों को उजागर किया है। इस व्यवस्था से त्रस्त जनसामान्य और समाज की परेशानियों को चित्रित करने में 'कामायनी' को अच्छी सफलता मिली है। 'कर्म लोक' की तस्वीर खींचते हुए प्रसाद ने लिखा है कि वह श्रममय कोलाहल, पीड़ा, अशांति आदि से भरा है। 'कर्मलोक' वास्तव में पूँजीवादी व्यवस्था की विशेषताओं से युक्त है–

''श्रममय कोलाहल, पीड़नमय विकल प्रवर्त्तन महायंत्र का,
क्षण भर भी विश्राम नहीं है प्राण दास है क्रिया-तंत्र का।
भाव-राज्य के सकल मानसिक सुख यों दुख में बदल रहे हैं,
हिंसा गर्वोन्नत हारों में ये अकड़े अणु टहल रहे हैं।
.....यहाँ सतत संघर्ष, विफलता कोलाहल का यहाँ राज है,
अंधकार में दौड़ लग रही मतवाला यह सब समाज है।''[6]

परिवर्तनकामी चौथे दशक में साहित्य की जो संस्कृति बन रही थी, वह 1936 की 'कामायनी' में पूँजीवाद की विडम्बनात्मक स्थितियों को व्यक्त कर रही थी। देव-सृष्टि की विलासिता के नष्ट होने का मोह मनु को उद्वेलित करता रहता है, नई सृष्टि को भी वह विलास-सामग्री से भरा-पूरा देखना चाहता है। निरंकुश अधिकार की कामना मनु को इड़ा के प्रति हिंसात्मक बनाती है, फलत: प्राकृतिक आपदाओं से त्रस्त जनता मनु की सत्ता के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह कर उठती हैं। 'कामायनी' में जनता के विद्रोह का चित्रण महत्त्वपूर्ण है। उस दौर की जनवादी चेतना के असर के रूप में इस विद्रोह को देखा जा सकता है। साहित्य की संस्कृति में जनसामान्य के रोष को गंभीरतापूर्वक देखा जाने लगा था। जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी कविता में शायद पहली बार जनता के सशस्त्र विद्रोह को स्पष्ट शब्दों में, विद्रोह की भाषा में, व्यक्त किया है। **'सिंहद्वार अरराया जनता भीतर आयी'** और मनु से सीधी हथियारबंद लड़ाई जनता की हुई। जीत जनता की हुई और मनु घायल होकर गिर पड़े। श्रद्धा के स्वप्न में जनता के विद्रोह को और भी स्पष्ट तौर पर प्रसाद ने पेश किया है–

देखा उसने, जनता व्याकुल राजद्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दल भी झुक आये उनके भाव विशुद्ध नहीं,
नियमन एक झुकाव दबा-सा, टूटे या ऊपर उठ जाय?
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अविरुद्ध रही।''[7]

'कामायनी' प्रजातांत्रिक मूल्यों को शासन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। नियम-कानून केवल जनता के लिए नहीं, बल्कि शासक के लिए भी होते हैं-यह संदेश 'कामायनी' देती है। इड़ा अंत तक मनु को यही बात समझाती रही-

''क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले,
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।''[8]

लोकतांत्रिक मूल्यों की दृष्टि से एक और महत्त्वपूर्ण बात 'कामायनी' में मिलती है, वह है स्त्री-पुरुष की बराबरी के संबंध में। श्रद्धा और इड़ा ने मनु के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, परन्तु विकास करते ही मनु की पुरुषवादी वर्चस्ववृत्ति जाग उठी और वे श्रद्धा तथा इड़ा की उपेक्षा और अपमान कर बैठे। ऐसी स्थितियों में मनु न केवल मानसिक रूप से पीड़ित हुए, बल्कि उनका पतन भी हुआ। जहाँ देव-सृष्टि में औरत के वजूद की कोई चिंता ही नज़र नहीं आती, वहाँ मानव-समाज में स्त्री, पुरुष के बराबर हैसियत रखने की क्षमता रखती है।

गर्भवती श्रद्धा को अपने होने वाले बच्चे में ज़्यादा रुचि लेते देखकर मनु को गलतफहमी हुई कि श्रद्धा उनकी उपेक्षा कर रही है। वे ईर्ष्या से भर उठे और श्रद्धा को उस नाजुक हालत में छोड़कर सारस्वत प्रदेश चले गए। उन्हें कामदेव समझाता है-

''तुम भूल गए पुरुषत्व-मोह में कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।''[9]

क्रमश: श्रद्धा और इड़ा को अपमानित करने के बाद मनु को समझ में आ जाता है कि उन्होंने पुरुषवादी वर्चस्ववृत्ति के अहंकार में ऐसी ग़लती की है। श्रद्धा के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए वे कहते हैं-

''तुम अजस्र वर्षा सुहाग की और स्नेह की मधु-रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो तुम उसमें संतोष बनी।
कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना संवेदनमय हृदय हुआ''[10]

चूँकि इड़ा के प्रति मनु ने नैतिक अपराध किया था, अत: वे इड़ा के सामने अपनी ग़लती स्वीकार न कर सके, और सुबह होने से पहले ही सबको छोड़कर भाग गए। श्रद्धा, अपने पति की तरफ से, इड़ा के प्रति आभार व्यक्त करती है–

''मुझसे बिछुड़े को अवलंबन,
देकर, तुमने रक्खा जीवन,

तुम आशामयि ! चिर आकर्षण,

तुम मादकता की अवनत घन''[11]

इस तरह 'कामायनी' में आधुनिक समाज की समस्याओं के साथ-साथ आधुनिक जीवन-मूल्यों को सामने रखा गया है। पूँजीवादी व्यवस्था की विसंगतियों के साथ-साथ लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास भी दिखाई पड़ता है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की लंबी कविता **'राम की शक्तिपूजा'** अपराजेय जिजीविषा की कविता है। विपरीत और कठिन परिस्थितियों में मनुष्य की संघर्षोन्मुखता की प्रवृत्ति यहाँ दिखाई गई है। अपराजेय शत्रु रावण को स्वयं 'शक्ति' का संरक्षण प्राप्त है। राम के अमोघ बाण भी 'शक्ति' के सुरक्षा-कवच को भेदकर रावण तक नहीं पहुँच पा रहे हैं। ऐसी हताशाजनक स्थिति में राम 'हारी होड़' लगाने को कृत-संकल्प होते हैं।

साम्राज्यवादी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में **'राम की शक्तिपूजा'** का लिखा जाना महत्त्वपूर्ण है। संघर्ष की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना और हर हालत में जिजीविषा को बनाए रखना उस दौर की आवश्यकता थी, तभी स्वतंत्रता आंदोलन को आगे बढ़ाया जा सकता था।

'राम की शक्ति-पूजा' के तीन वाक्यांश ध्यान देने योग्य हैं–

(क) अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति

(ख) शक्ति की करो मौलिक कल्पना

(ग) आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर

इन पंक्तियों के विश्लेषण से पहले यह देखना आवश्यक है कि निराला स्वतंत्रता आंदोलन के प्रयासों से पूरी तरह सहमत नहीं थे। वे चाहते थे कि स्वतंत्रता आंदोलन का लक्ष्य व्यापक होना चाहिए, उसे केवल राजनीतिक आज़ादी तक सीमित नहीं होना चाहिए। शिक्षा के मुद्दे को निराला ज़्यादा ज़रूरी मान रहे थे, ताकि किसान जैसा ग़रीब तबका जागरूक हो सके। किसानों के जागरूक होने का मतलब है भारत के बहुसंख्यक वर्ग का जागरूक होना। 'सुधा' सितम्बर, 1930 में उन्होंने लिखा, **''जितने आदमी जेल में साल-साल भर की सज़ा भुगत रहे हैं, अगर आंदोलन से पहले कहा जाता कि भारत में तीस हज़ार केन्द्र बनाकर मूर्ख ग्रामवासियों को शिक्षा दीजिए, उन्हीं की मातृभाषा में, संसार की आवश्यक बड़ी-बड़ी बातें, उन्हीं से प्राप्त रोटियों से गुज़र करते हुए, किसी से लड़िए मत, वे परिश्रम करके अन्न पैदा करेंगे, आपके भोजनों की फिक्र करेंगे, आप उनकी विद्या तथा शिक्षा की फिक्र कीजिए, आपका और उनका इस तरह बराबर का व्यवहार रहेगा, तो इतनी बड़ी संख्या दीख पड़ती या नहीं, इसमें संदेह है।''**[12]

निराला चाहते थे कि आज़ादी की लड़ाई को सर्वांगीण स्वतंत्रता के उद्देश्य से लड़ा जाए; तत्कालीन स्वतंत्रता आंदोलन के स्वरूप से वे पूरी तरह सहमत नहीं थें इसलिए **'राम की शक्तिपूजा'** में चित्रित राम के संघर्ष को स्वतंत्रता आंदोलन से जोड़कर तो देखना चाहिए, पर रूपक के रूप में नहीं। स्वतंत्रता आंदोलन की प्रेरणा निश्चय ही इस कविता की रचना-प्रक्रिया में सक्रिय हैं; किंतु राम की मिथकीय कथा को, संघर्षशील मनुष्य की अपराजेय जिजीविषा की अभिव्यक्ति के लिए, प्रस्तुत किया गया है। अतः **'राम की शक्ति पूजा'** को स्वतंत्रता आंदोलन, मनुष्य की संघर्षशील जिजीविषा और किसी भी हालत में निष्क्रिय न होने की कविता के रूप में देखा जाना चाहिए।

अपने दौर की जनोन्मुखता और यथार्थवादिता को राम के संघर्ष में निराला ने व्यक्त किया है। राम बंदर, भालू, रीछ जैसे साधारण प्राणियों के भरोसे प्रचण्ड शत्रु रावण के खिलाफ लड़ाई लड़ रहे हैं। सत्य और न्याय के पक्ष से लड़ने वाले राम स्वयं को असत्य और अन्याय के पक्ष से लड़ने वाले रावण के सामने विवश महसूस करते हैं। निराला उस युग के यथार्थ को इन कई पहलुओं के माध्यम से व्यक्त कर रहे हैं।

ऊपर जिन तीन वाक्यांशों को रखा गया है, अब उनकी चर्चा करना आवश्यक होगा। इन तीनों पंक्तियों का संबंध राम के संघर्ष से है। जाहिर है कि प्रतिपक्ष में रावण जैसा भयानक शत्रु इस संघर्ष को चुनौतीपूर्ण बना रहा है। राम और रावण के इस संघर्ष में स्वतंत्रता आंदोलन की चेतना निश्चित रूप से काम कर रही है, पर पूरी कविता स्वतंत्रता आंदोलन से संबंधित नहीं है। उपर्युक्त तीनों पंक्तियों के विश्लेषण से यह बात साफ-साफ समझ में आ जाती है।

'**अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति**'' में स्वतंत्रता आंदोलन और राम की मिथकीय कथा, दोनों के प्रासंगिक अर्थ प्राप्त होते हैं। अन्यायी रावण का साथ स्वयं'शक्ति'दे रही हैं। अन्यायी साम्राज्यवादी अंग्रेज़ों के पास अपार हथियार, धन और दिमाग हैं, जिनका उपयोग वे उपनिवेशों को लूटने में कर रहे थे। '**शक्ति की करो मौलिक कल्पना**' का संबंध स्वतंत्रता आंदोलन के लिए किए गए व्यक्तिगत प्रयासों और बलिदानों से हैं, राम की बँगला कथा से तो है ही। समस्या '**आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर**' में आती है। रावण ने'शक्ति'को अपने पक्ष में करने के लिए आराधना की थी; रावण के प्रयासों को '**आराधन**' की कोटि में रखा जा सकता है, यह अलग बात है कि इससे प्राप्त शक्ति का उसने दुरुपयोग किया। परंतु अंग्रेज़ों के साम्राज्यवादी विस्तार के प्रयास को '**आराधन**' कहना उचित नहीं। **निराला** ऐसा नहीं कह सकते थे। रावण की आराधना का उत्तर राम ने आराधना से दी। अंग्रेज़ों और भारत के स्वतंत्रता सेनानियों का ऐसा कोई संबंध नहीं बनाया जा सकता। कुल मिलाकर '**राम की शक्तिपूजा**' में जनसामान्य की अथक संघर्ष-क्षमता को रेखांकित किया गया है।

चौथे दशक में निर्मित साहित्य की नई संस्कृति को 1936 की रचनाओं में सशक्त अभिव्यक्ति मिली। यहाँ के राम सामान्य मनुष्य की विवशताओं से युक्त हैं और उनमें आधुनिक मूल्यों के प्रति पूर्ण आग्रह है, जिसके कारण वे अंतिम हद तक संघर्ष करने को तैयार हैं।

'**राम की शक्तिपूजा**' वास्तव में व्यक्तिगत शक्तिपूजा नहीं है, उसका एक बड़ा सामाजिक लक्ष्य है। रावण राम का केवल व्यक्तिगत अपराधी नहीं है, रावण व्यापक तौर पर मानवता का अपराधी है। केवल पत्नीहरण के कारण भी राम के द्वारा रावण का वध न्यायसंगत था, पर ऐसी स्थिति में रामकथा मिथक नहीं बन पाती और बाद की पीढ़ी उससे आज जैसी प्रेरणा ग्रहण नहीं कर पाती। राम अपनी '**शक्तिपूजा**' से अपने पक्ष के लोगों में विजय की आशा जगा देते हैं।

यह सही है कि शक्तिपूजा महज व्यक्तिगत नहीं है, उसका एक व्यापक लक्ष्य है; किंतु नायक की छवि वाले मिथकीय पात्र राम के माध्यम को अपनाकर संघर्ष की प्रक्रिया को आगे बढ़ाना, छायावाद की विचारधारात्मक सीमा है।

"होगी जय! होगी जय ! हे पुरुषोत्तम नवीन
कह महाशक्ति राम के वदनमें हुई लीन।"

इन पंक्तियों में शक्ति राम को विजय का आशीर्वाद देती हैं और उनके वदन में लीन हो जाती हैं। ध्यातव्य है कि रावण के ख़िलाफ राम की पूरी सेना लड़ रही थी, अकेले राम नहीं लड़ रहे थे। पर शक्ति केवल राम के वदन में लीन होती हैं, फौज के वदन में नहीं; उपासना भी केवल राम ही करते हैं। राम की पूरी सेना इस शक्तिपूजा से प्रत्यक्षत: कटी हुई है।

इसे छायावाद की विचारधारात्मक सीमा कहा जा सकता है। मुक्ति की लड़ाई में आम जनता को महत्त्वपूर्ण होना चाहिए, नेता या नायक को नहीं। नेता या नायक का महत्त्व है, पर जनता की सक्रिय भागीदारी ज़्यादा महत्त्व रखती है। यह ठीक है कि **'राम की शक्तिपूजा'** के मिथकीय आधार में व्यापक जन-समूह के जागरण की कोई गुंजाइश नहीं है। पर 1936 में रामकथा के मिथक को अपनाकर **निराला** ने जनता की लड़ाई के प्रति अपनी विचारधात्मक सीमा को खुद ही स्पष्ट कर दिया है। वैसे राम को एक साधारण संघर्षरत मनुष्य के रूप में दिखाया गया है, पर उनकी नायक की छवि यहाँ बरकरार है। इस प्रसंग में, मुक्तिबोध की कविता **'अँधेरे में'** (1962 ई०) की याद हो जाती है। **'अँधेरे में'** का कथानायक जनता के लिए संघर्ष करना चाहता है और प्रयास भी करता है। पर वह अकेले कुछ नहीं कर पाता और अंत में सर्वहारा वर्ग के जुलूस में शामिल होकर अन्याय-अत्याचार के ख़िलाफ आवाज़ उठाता है। सामाजिक संघर्ष अकेले की चीज़ नहीं है, उसके लिए संगठन बनाने की आवश्यकता है। उसमें नायकत्व की ज़रूरत तो है,पर ऐसे नायकत्व की जो जनता की ताकत को पहचान सके। **'अँधेरे में'** में मानो मुक्तिबोध ने हिन्दी कविता के लिए नया मिथक गढ़ डाला है, जो अपेक्षाकृत ज़्यादा युगानुकूल है। यह मुक्तिबोध की विचाराधात्मक व्याप्ति है।

'राम की शक्तिपूजा' की उपर्युक्त सीमाएँ, वास्तव में, 1936 और छायावाद की सीमाएँ हैं। 1936 के बाद की कविताओं में स्वतंत्रता आंदोलन के प्रति **निराला** का वही दृष्टिकोण नहीं रहा। जनता की भूमिका को उन्होंने रेखांकित किया। 4 अप्रैल 1937 को लिखी उनकी प्रसिद्ध कविता **'तोड़ती पत्थर'** में पूरा ध्यान सर्वाधिक कमज़ोर वर्ग पर है–मज़दूर औरत पर–जो मज़दूर और औरत होने का दुहरा दंश झेल रही है। **'सामने तरुमालिका अट्टालिका प्राकार'**–में **अट्टालिका** इलाहाबाद का आनंदभवन है, जो उस समय काँग्रेस का कार्यालय था। काँग्रेस के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था। **निराला** बताना चाह रहे थे कि इस स्वतंत्रता आंदोलन से मिलने वाली आज़ादी के बाद दूसरे वर्गों का भला भले ही हो, सर्वहारा वर्ग का तो नहीं ही होगा। **नंददुलारे वाजपेयी** ने **'कवि निराला'** नामक अपनी पुस्तक में इस कविता के उपर्युक्त संदर्भों की सप्रमाण चर्चा की है। (पृ० 155 में)

छायावाद की राष्ट्रीय चेतना सर्वमान्य है। स्वतंत्रता आंदोलन को सांस्कृतिक स्तर पर स्वर देने में छायावाद को अपूर्व सफलता मिली। इस मामले में छायावाद की सीमा यह है कि उसने स्वतंत्रता आंदोलन को उसके ठोस राजनीतिक धरातल पर देखने का प्रयास नहीं किया। छायावाद की सीमाओं की जड़ें यहीं से फूटती हैं, जब वह स्वतंत्रता आंदोलन को राजनीतिक की जगह सांस्कृतिक आंदोलन समझने का ललित प्रयास करता है। कलात्मक दृष्टि से देखें तो छायावाद ने स्वतंत्रता आंदोलन की उर्जा को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में इस्तेमाल करके उच्च कोटि

का साहित्य भी रचा। स्वतंत्रता आंदोलन को सांस्कृतिक रूप देने के कारण छायावाद का भावबोध आज भी प्रासंगिक लगता है। छायावाद के जागरण गीतों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है।

हालाँकि **'सरोज-स्मृति'** की रचना निराला ने 9 अक्टूबर 1935 को ही की थी, पर इसका प्रकाशन जनवरी, 1936 के **'सुधा'** मासिक में हुआ। इस कविता के केन्द्र में निराला की बेटी सरोज की मृत्यु और हिन्दी के साहित्यकार की स्थितियाँ हैं। 1936 तक छायावाद अपनी तमाम विशेषताओं के साथ विभिन्न रचनाओं में प्रकट हो रहा था। **'सरोज-स्मृति'** की अनेक छायावादी और छायावादेतर विशेषताएँ हैं, जो तत्कालीन साहित्य की संस्कृति को प्रकट करती हैं।

'सरोज-स्मृति' बेटी की मृत्यु पर लिखी गई महज शोक कविता नहीं है। इसमें **निराला** के साहित्यिक संघर्ष, बेटी की मृत्यु की करुण पृष्ठभूमि में, व्यक्त हुए हैं। मृत्यु पर भावुक रुदन इस कविता में नहीं है। बेटी की मृत्यु को रोमानी अंदाज में भी नहीं देखा गया है। छायावाद ने स्त्री को सम्मानजनक दर्जा दिया; यह सम्मान इस कविता में भी है, जब निराला कहते हैं-***'मुझ भाग्यहीन की तू संबल'***। निराला अपने पुत्र **रामकृष्ण त्रिपाठी** के रहते हुए भी बेटी सरोज को अपना संबल मानते हैं–पुत्र से ज्यादा पुत्री को महत्त्व।

निराला इस कविता में छायावाद की सीमाओं का तब अतिक्रमण कर जाते हैं, जब वे बेटी सरोज के यौवन का वर्णन करते हैं, जब वे शादी के जोड़े में सजी सरोज की सुंदरता का वर्णन करते हैं और जब वे सरोज की शादी के बाद उसकी सुहाग सेज स्वयं रचते हैं–

''माँ की कुल शिक्षा मैंने दी,
पुष्प-सेज तेरी स्वयं रची,''

सरोज जब सवा साल की थी, तभी उसकी माँ **श्रीमती मनोहरा देवी** का निधन हो गया था। अत: सरोज की शादी के बाद, माँ के द्वारा दी जाने वाली हिदायतें, **निराला** ने दीं। सरोज की सुहाग-सेज भी **निराला** ने रची। **निराला** का यह प्रयोग छायावादी कविता की क्षमता से बाहर की बात लगती है–बाप अपनी बेटी की सुहाग-सेज रचे और अकुंठ भाव से कविता में कह भी दे। वात्सल्य को शृंगार तक पहुँचाने में निराला को साहसिक सफलता मिली है, जहाँ न तो वात्सल्य खंडित हुआ है और न शृंगार कमज़ोर हुआ है। वात्सल्य और शृंगार का यह अद्‌भुत तादात्म्य छायावाद का अतिक्रमण कर जाता है।

निराला सरोज की मृत्यु की चर्चा करते हुए अपनी ग़रीबी की चर्चा करते हैं। उसके बाद हिन्दी के प्रतिभाशाली साहित्यकार की चौतरफा उपेक्षा को प्रस्तुत करते हैं। बीसवीं शताब्दी के इस अंतिम वर्ष में हम सब सहमत हैं कि इस शताब्दी के निराला हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं। निराला उस हिन्दी के सबसे बड़े कवि थे, जो भारत की राष्ट्रभाषा बनने वाली थी। राष्ट्रभाषा हिन्दी का सबसे बड़ा कवि इतना गरीब था कि अपनी एकमात्र बेटी को सामान्य भौतिक सुविधाएँ उपलब्ध न करा सका–

''शुचिते, पहनाकर चीनांशुक
रख सका न तुझे अत: दधिमुख।''

और हद तब हो गयी, जब राष्ट्रभाषा हिन्दी का महाकवि अपनी बीमार बेटी के इलाज के लिए पर्याप्त धन

न जुटा सका और अठारह साल की उम्र में ही वह चल बसी।

'सरोज-स्मृति' हिन्दी समाज की बनावट पर आघात करती है। इसमें सरोज की मृत्यु के लिए जिम्मेदार कारणों की पड़ताल करते हुए निराला हिन्दी समाज में साहित्यकार की स्थिति के विश्लेषण तक पहुँच जाते हैं।

1936 की छायावादी रचनाओं में यथार्थवादी स्वर सुनाई पड़ने लगा था। 'राम की शक्तिपूजा', 'सरोज-स्मृति', 'कामायनी', 'गीतिका' जैसी छायावादी रचनाओं में यथार्थवाद की धारा बनने लगी थी। इस धारा की पहचान के उद्देश्य से सारा विश्लेषण किया जा रहा है। इसके लिए जरूरी है कि रचनाओं के उन अंशों को सामने रखा जाए, जिनसे प्रमाणित हो सके कि यथार्थवाद साहित्य की संस्कृति को निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा था। हिन्दी साहित्य की जो नई संस्कृति बन रही थी, उसमें यथार्थवाद का स्वर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन कर उभर रहा था। इस शोध का उद्देश्य 1936 के हिन्दी साहित्य का महज संकलन करना नहीं है, बल्कि परिवर्तनकामी चौथे दशक के केन्द्रीय वर्ष के रूप में इसकी पहचान करना है। इसी वर्ष हिन्दी साहित्य की संस्कृति में यथार्थवादोन्मुख परिवर्तन के व्यापक प्रयास होते हैं। 'प्रगतिशील लेखक संघ' के निर्माण के अतिरिक्त उस दौर की रचनाएँ भी इन प्रयासों के प्रमाण हैं।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला के गीत-संग्रह 'गीतिका' (1936) में भी उपर्युक्त प्रवृत्तियों को रेखांकित किया जा सकता है।

इसके पहले संस्करण (1936 ई०) में ही 'जयशंकर प्रसाद का अभिमत' छपा कि "**गीतिका हिन्दी के लिए सुन्दर उपहार है। उसके चित्रों की रेखाएँ पुष्ट, वर्णों का विकास भास्वर है। उसका दार्शनिक पक्ष गंभीर और व्यंजना मूर्तिमती है।**"[13] प्रसाद का अभिमत था कि 'गीतिका' निराला की प्रौढ़ रचना है। इसके गीतों में छायावादी गीतों का परिपक्व रूप है, "**उनमें केवल पिक की पञ्चम पुकार ही नहीं, कनेरी की-सी एक ही मीठी तान नहीं, अपितु उनकी गीतिका में सब स्वरों का समारोह है।**"[14] इन गीतों में केवल कोमलता नहीं है, इसमें ओज का अद्‌भुत सौंदर्य है।

पुराने आलोचकों की समझ को चुनौती देते हुए श्री नंददुलारे वाजपेयी ने 'गीतिका' की भूमिका में लिखा, "**पुराने और कीर्तिलब्ध समीक्षक, जो समय या स्थिति के अभाव से प्रगतिशील साहित्य के साथ नहीं चल सकते, तत्काल विश्राम ले लें।**"[15] वाजपेयी जी को पूरा विश्वास था कि पुराने दृष्टिकोण से 'गीतिका' का आस्वादन संभव नहीं, इसे समझने के लिए प्रगतिशील दृष्टि आवश्यक है। उन्होंने संक्षेप में 'गीतिका' और अपने समय की नूतन काव्य-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए निराला को व्यापक जीवन से सहानुभूति रखने वाला कवि बताया।

'गीतिका' के एक सौ तीन (103) गीतों में से ग्यारह (11) गीत 1936 ई० की विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। 52 (बावन) गीत 1936 ई० से पहले की पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। शेष चालीस (40) गीत 'गीतिका' में पहली बार प्रकाशित हुए। यह कह पाना मुश्किल है कि ये चालीस (40) गीत 1936 ई० में ही लिखे गए या पहले? हो सकता है निराला ने ये गीत पहले लिखे हों और प्रकाशित न हो पाए हों। यह भी संभव है कि 'गीतिका' को संकलित करते समय इन चालीस (40) गीतों में से कुछ गीतों को उन्होंने 1936 ई० में ही लिखा हो। चूँकि ये चालीस (40) गीत पहली बार 1936 ई० में प्रकाशित हुए, इसलिए मैंने इन्हें भी अपने

अध्ययन-क्षेत्र में रखा है। इस तरह, 'गीतिका' के अंतिम इक्यावन (51) गीतों को ध्यान में रखकर विश्लेषण करना उचित होगा।

'गीतिका' के गीतों के रागों की चर्चा निराला ने इसकी भूमिका में की है। अपने नये प्रयोगों की बारीकियों को खड़ी बोली हिन्दी के गीतों के अनुकूल बताते हुए उन्होंने ब्रजभाषा के गायकों के लिए कठिन बताया है। धम्मार, रूपक, झपताल, चौताल, तीन ताल, दादरा जैसे रागों के आधार पर लिखित अपने गीतों को उद्धृत करते हुए उन्होंने नये प्रयोगों को दिखाया है। निराला ने अपने गीतों को हिन्दी के परम्परागत पाठकों और आलोचकों के लिए अबोधगम्य बताते हुए 'भूमिका' में लिखा है, **"मैं खड़ी बोली में जिस उच्चारण-संगीत के भीतर से जीवन की प्रतिष्ठा का स्वप्न देखता आया हूँ, वह ब्रजभाषा में नहीं।"**[16]

निराला खड़ी बोली हिन्दी की प्रकृति को अपने गीतों में पूरी कलात्मकता के साथ पेश करना चाहते थे। कविता और संगीत के तत्त्वों को सम्मिलित रूप से पूरी ऊँचाई के साथ प्रस्तुत करने की कोशिश निराला ने की और उन्हें विश्वास था कि ऐसा करने में उन्हें सफलता मिली है, **"चूँकि मैं बाजार का नहीं बन सका, शायद इसीलिए सरस्वती ने मेरे स्वरों को बजारू नहीं बनने दिया।"**[17] निराला ने स्वर और शब्द की साधना का सक्षम उदाहरण 'गीतिका' को बनाया।

'गीतिका' के गीतों में प्रकृति, प्रेम, भक्ति, स्वतंत्रता आंदोलन आदि के अनेक रंग दिखाई पड़ते हैं। छायावाद के अंतिम वर्ष 1936 ई० में छपी यह पुस्तक गीतों के रूप में छायावाद के भाव और कला-पक्ष को विविधताओं से भर देती है। 'भारति, जय विजयकरे!' में भारत के भूगोल को खींचते हुए स्वतंत्रता की कामना की गयी है। उस दौर के स्वतंत्रता-गीतों में बहुप्रयुक्त 'हिंद महासागर, हिमालय, गंगा, कमल' आदि यहाँ भी हैं। अपने देश के भूगोल में स्वतंत्र चेतना की तलाश आज़ादी की तरफ प्रेरित करती है। 'बन्दूँ पद सुन्दर तव' में प्रकृति के जागरण के माध्यम से सचेत और सचेष्ट होने की प्रेरणा दी गयी है। 'हुआ प्रात, प्रियतम' जैसी प्रेम कविता में 'फूटा आलोक' के द्वारा कवि ने जागरण फैलने की चर्चा की है।

प्रेम में वासना से मुक्ति की कामना '(प्रिय) यामिनी जागी' में हैं। स्त्री-पुरुष के संबंध पर यह सावधान गीत पूरी समझदारी के साथ टिप्पणी करता है। पूरी रात प्रिय के साथ बिताने के बाद नायिका को प्रेम में पगी हुई पर वासना से मुक्त बताकर कवि ने स्त्री-पुरुष के संबंधों को गहराई से व्यक्त करने का प्रयास किया है–

"गेह में प्रिय-नेह की जयमाल
वासना की मुक्ति, मुक्ता
त्याग में तागी।"[18]

वसंत में जंगल से लेकर खेत तक के सौंदर्य को 'सखि, वसंत आया' में निराला ने चित्रित किया। 'गीतिका' के इन छोटे-छोटे गीतों में व्यापक दृष्टिकोण का परिचय कवि ने दिया है। हिन्दी कविता अब वन की प्रकृति पर ही लुब्ध नहीं हो रही थी, अब उसका ध्यान गाँव की प्रकृति की तरफ भी जा रहा था–

"स्वर्ण-शस्य-अंचल
पृथ्वी का लहराया।"[19]

'मौन रही हार' गाढ़े प्रेम और सामाजिक संकोच से भरा गीत है। आभूषणों की ध्वनियों को बेमिसाल ढंग से यहाँ चित्रित किया गया है। यहाँ केवल रोमानी प्रेम का अतिरेक नहीं है, अपितु इसमें रास्ते की सामाजिक रुकावट की भी ललित चर्चा है। 'कौन तम के पार' प्रसिद्ध दार्शनिक गीत है। 'जला दो जीर्ण-शीर्ण प्राचीन' में निराला भारत की धरती पर देवव्रत जैसे युवकों को पुनः उतारने की कामना करते हैं, ताकि भारत में नवीन शक्ति फैल सके। जीवन-हीन तन को रखने से क्या फायदा? इससे तो अच्छा है कि जीवन को प्राप्त करने का प्रयास किया जाए। यह इशारा निश्चय ही स्वतंत्रता की तरफ है।

सारे बंधनों को तोड़ने की आकांक्षा 'कब से मैं पथ देख रही' गीत में है–

"तोड़ दिए जब सब अवगुण्ठन,
रहा एक केवल सुख-लुण्ठन,
तब क्यों इतना विस्मय-कुण्ठन?
असमय-समय न करो खड़ी, प्रिय!"[20]

सारी कुण्ठाओं को भूलकर प्रेम करो। आज़ादी की पराकाष्ठा पर पहुँचने की यह कामना स्वतंत्रता की चेतना भी भरती है। जीवन की तरी को खोल दो, बाँधो मत, उसे उत्ताल तरंगों पर उछलने-गिरने दो। डरो मत, जीवन को जोखिम में डालो, इसी में जीवन का सौंदर्य है। आज़ादमिज़ाजी में ही ज़िन्दगी का सौंदर्य है–

"जीवन की तरी खोल दे रे
जग की उत्ताल तरंगों पर,
दे चढ़ा पाल कलधौत धवल,
रे सबल, उठा तट से लङ्गर।"[21]

'टूटे सकल बंध' भी ऐसा ही गीत है जिसमें पूर्ण स्वतंत्रता की कामना की गयी है–

"टूटे सकल बंध
कलि के, दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गन्ध।"[22]

एक और जागरण गीत ध्यातव्य है–

"जागा दिशा-ज्ञान;
उगा रवि पूर्व का गगन में, नव-यान!"[23]

प्रकाश के स्रोतों और ज्ञान का दुर्लभ गठजोड़ 'गीतिका' के गीतों में दिखाई पड़ता है। इसके अनेक गीतों में ज्ञान, प्रकाश, सूर्य, तड़ित, दिशा-ज्ञान, आलोक आदि की चर्चा है। 'गर्ज्जित-जीवन झरना' में बहुत ऊँचा मनोबल दिखाई पड़ता है। बाधाओं को काटकर झरना धरती पर ऊँचाई से गिरता है और निरंतर अपने पथ पर पूरे वेग से बढ़ता है। वह सर्वत्र जीवन का संचार करने के लिए ऊपर से नीचे आता है–

गर्ज्जित-जीवन झरना;
उद्देश पार पथ करना।
ऊँचा रे, नीचे आता

जीवन भर-भर दे जाता;
गाता, वह केवल गाता–
"बन्धु, तारना, तरना।"
बङ्किम-से-वङ्किम पथ पर
बढ़ता उद्दाम प्रखरतर;
बाधाएँ अपसारित कर
कहता-"वर यों वरना।"
"सूखते हुए, निर्जीवन
होने से पहले तक, मन
बढ़ना, मरकर बनना घन,
धारा नूतन भरना।"[24]

'गीतिका' के गीतों में हिन्दी कविता के नए रंग व्यक्त हुए हैं। प्रेम, वासना से मुक्ति, गाँव की प्रकृति, मुक्ति की कामना, जागरण आदि विषयों को निराला ने बड़े ललित तरीके से उठाकर साहित्य की नई संस्कृति के निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये गीत महज भावना-प्रधान नहीं हैं। इनके ललित स्वरूप में गहरा यथार्थ-बोध है।

पुरानी मान्यताओं, पुराने सौन्दर्यबोध, पुरानी भाषा, पुराने मूल्यों और पुरानी चेतना के विरुद्ध '36 का साहित्य मुहिम छेड़ता हुआ-सा मालूम पड़ता है। सुमित्रानंदन पंत की कविताओं में यह प्रयास अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। वे घोषित रूप से पुरानेपन का विरोध करते हैं। उन्होंने छायावादी दौर में रीतिवाद का विरोध किया था। 'पल्लव' की भूमिका में उन्होंने ब्रज कविता की सौन्दर्याभिरुचि पर जमकर प्रहार किया था। 1936 और उसके बाद के प्रगतिवादी दौर में पंत ने छायावादी सीमाओं के विरुद्ध खुलकर लिखा। उन्होंने छायावाद के अंत की खुली घोषणा 'युगांत' के माध्यम से की। पंत ने छायावाद को अपर्याप्त मानते हुए उसे छोड़ने की वकालत की और प्रगतिवाद की यथार्थवादिता तथा जनोन्मुखता को अपनाने का भरपूर प्रयास 'युगांत' (1936) और 'युगवाणी' (1939) में किया।

प्राय: समझा जाता है कि 'युगांत' की रचना के पीछे 'प्रगतिशील लेखक संघ' या प्रगतिवाद से प्राप्त प्रेरणा रही है। 'प्रगतिवाद' और 'युगांत' के रचना-काल को आमने-सामने रखकर देखा जाए, तो यह बात सही नहीं मालूम पड़ती है। यदि 'प्रगतिवाद' नहीं भी आया होता तो भी पंत की इन कविताओं के स्वर में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं आता। अप्रैल, 1936 से प्रगतिवाद की शुरुआत मान ली गई है। 'युगांत' की अनेक कविताएँ अप्रैल, '36 से पहले की हैं, जिनमें यथार्थवादिता और जनोन्मुखता की गहरी चेतना है। इससे स्पष्ट होता है कि हिन्दी कविता इस रास्ते पर स्वाभाविक रूप से बढ़ रही थी। 'प्रगतिवाद' या 'प्रगतिशील लेखक संघ', वास्तव में, हिन्दी साहित्य की इस नई जनवादी चेतना को विधिवत् प्रस्तुत करने का एक मंच तैयार कर रहे थे। 'प्रगतिवाद' कोई आरोपित प्रवृत्ति नहीं थी, बल्कि हिन्दी साहित्य में जो नई संस्कृति बन रही थी, उसके परिणामस्वरूप प्रगतिवाद का जन्म

हुआ। इसके निर्माण में हिन्दी साहित्य के साथ-साथ चौथे दशक की तमाम ऐतिहासिक शक्तियों का भी योगदान रहा।

'युगांत' की कविताओं के माध्यम से उपर्युक्त विश्लेषण के प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अक्टूबर 1935 में पंत ने एक कविता लिखी 'ताज', जो ताजमहल के आलीशान सौंदर्य के खिलाफ लिखी गई है। पंत का तर्क है कि **'जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!'** तब ताजमहल में मृत्यु को अमर बनाने का शोभनमय शृंगारिक प्रयास किया जा रहा था। मृत्यु की पूजा और संसार के दीन-दुखियों की उपेक्षा को पंत ने इस कविता में उठाया है–

"शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का?"[25]

इस कविता में अत्यन्त साफ शब्दों में पंत ने अमीरी-गरीबी की विडम्बना को रेखांकित किया है–

"स्फटिक सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवित जन?"[26]

मई '35 की कविता है 'सृष्टि'। पंत लिखते हैं कि मिट्टी में दबा बीज अंकुरित होकर विशाल वृक्ष बन जाता है। वह अंधकार में खोता नहीं और न ही मिट्टी में मिलता है। उसमें जीवन के प्रति अपार लालसा होती है, जिसके बल पर वह आपदाओं के विरुद्ध संघर्ष करता है–

"बन्दी उसमें जीवन अंकुर
जो तोड़ निखिल जग के बंधन,
पाने को है निज सत्व, मुक्ति!
जड़ निद्रा से जग, बन चेतन।"[27]

उस 'तुच्छ-चीज़' में प्रकाश की तमाम संभावनाएँ हैं। पंत ने इस कविता में कमज़ोर लगने वाले की क्षमताओं पर प्रकाश डाला है, बीज के माध्यम से–

"मिट्टी का गहरा अंधकार,
सोया है उसमें एक बीज,
उसका प्रकाश उसके भीतर,
वह अमर पुत्र ! वह तुच्छ चीज?"[28]

अक्टूबर '35 में पंत ने लिखा–'बाँसों का झुरमुट'। इसमें श्रमजीवी वर्ग के कठिन जीवन की चर्चा है–

"कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन ! भारी पग !"[29]

'युगांत' की कविताओं से अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्दी कविता यथार्थवाद और जनवाद के प्रति जागरूक हो रही थी। अतः प्रगतिवाद की शुरुआत के पीछे, बाहरी कारणों को तलाशने के बदले, हिन्दी साहित्य की परंपरा को देखना, अपनी इतिहाससम्मत दृष्टि का परिचय देना है।

'युगवाणी' (1939) में उपर्युक्त चेतना का विकसित रूप दिखाई पड़ता है। यहाँ पंत की कविता का दृष्टिकोण पूरी तरह यथार्थवादी हो गया है। इसके 'दृष्टिपात' में पंत ने लिखा है, "**'युगवाणी' की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौंदर्य है।.....'युगवाणी' में आप टेढ़ी-मेढ़ी पतली-ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ वासांसि जीर्णानि विहाय.....सौंदर्य देखेंगे,.....। पत्ते की मांसल हरियाली को जब कीड़े चाट जाते हैं, उसकी सूक्ष्म स्नायुओं से बुनी हुई हथेली का कला-विन्यास जिस प्रकार देखने वालों को आश्चर्यचकित कर देता है उसी प्रकार की मिलती-जुलती हुई सौंदर्य-संक्रान्ति की झांकी आप 'युगवाणी' में भी पायेंगे।**"[30]

कुल मिलाकर पंत की शब्दावली में कहें तो **'युगवाणी' 'नयी संस्कृति के बीज बखेर रही है।' 'नयी संस्कृति'** की पहचान इस संग्रह की कविताओं के माध्यम से की जा सकती है। **'युग की वाणी'** कैसी होनी चाहिए, पंत बताते हैं–

"स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिर्जगत
बन जावे, वीणापाणी!"[31]

पंत चाहते हैं कि दुनिया के प्रति यथार्थपरक और वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाने की सख्त ज़रूरत है। हालाँकि **'युगवाणी'** में यथार्थवाद और आदर्शवाद के समन्वय का प्रयास किया गया है। गाँधीवाद और मार्क्सवाद के बीच संतुलन बनाने का प्रयास पंत ने किया है। फिर भी **'युगवाणी'** में अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जो हिन्दी कविता की यथार्थवादी और जनोन्मुख दृष्टिकोण का प्रमाण हैं। व्यक्ति की जगह व्यापक जन-समुदाय को महत्त्व देना महत्त्वपूर्ण है–

"सर्व मुक्ति हो मुक्ति तत्व अब
सामूहिकता ही निजत्व अब"[32]

अब **'जीवन संघर्षण देता सुख'** और **'नव संस्कृति'** की विशेषता है कि **'निष्क्रिय न जहाँ मानव मन'**। इस संस्कृति में कामना की गयी है कि किसी के श्रम का शोषण न हो **'धन-बल से हो जहाँ न जनश्रम शोषण'**। **'पुण्य प्रसू'** में कहा गया है कि **'देखो भू को!'**– आकाश में मत ताकते रहो, धरती को प्यार करना सीखो। धरती के साधारण लोगों तक अपनी पहुँच बनाओ! **'चींटी'** को पंत श्रमजीवी वर्ग से जोड़ते हैं-

"चींटी है प्राणी सामाजिक,
वह श्रमजीवी, वह सुनागरिक।"[33]

चींटी के माध्यम से श्रमजीवी वर्ग के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। उनकी परिश्रमशीलता को अत्यंत आदर से देखा गया हैं।

'दो लड़के' में दलित बच्चों की उछल-कूद और गरीबी को पंत ने सहानुभूति पूर्वक व्यक्त किया है। दलित जीवन पर कविता लिखने की चेतना का विकास हो चला था। पर पंत की कविताओं में सहानुभूति और उनके लिए मंगल कामनाओं की ही अधिकता है। दलितों की स्थिति के लिए जिम्मेदार व्यवस्था पर चोट नहीं है।

'युगवाणी' की एक कविता है 'मूल्यांकन'। इसमें हिन्दी साहित्य की नई संस्कृति का मानो पूरा परिचय दे दिया गया है। उस दौर की चेतना और साहित्य की संस्कृति को प्रस्तुत करने वाली इस कविता को पूरी की पूरी उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ–

आज सत्य, शिव, सुन्दर करता/ नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट औं संस्कृत लगते/ मन को केवल कुत्सित!
संस्कृति, कला, सदाचारों से / भव-मानवता पीड़ित,
स्वर्ण-पींजड़े में बन्दी है/ मानव आत्मा निश्चित!

आज असुन्दर लगते सुन्दर / प्रिय पीड़ित, शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर / मानव-मुख हरता मन!
मूढ़, असभ्य, उपेक्षित, दूषित / भू के उपकारक,
धार्मिक, उपदेशक, पण्डित, / दानी हैं लोक-प्रतारक!

धर्म नीति औं सदाचार का / मूल्यांकन है जन-हित,
सत्य नहीं वह, जनता से जो / नहीं प्राण-सम्बन्धित !
आज सत्य, शिव, सुंदर केवल / वर्गों में है सीमित,
उर्ध्वमूल संस्कृति को होना / अधोमूल रे निश्चित !''[34]

जनता को युग का सत्य बतलाया गया है। वर्ग को सकारात्मक दृष्टि से देखा गया है और जनसाधारण की प्रतिष्ठा की गयी है।

'युगवाणी' में कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जिनका सीधा संबंध तत्कालीन दार्शनिक मतों और सामाजिक विश्लेषणों से हैं। 'मार्क्स के प्रति', 'भूत दर्शन', 'साम्राज्यवाद', 'समाजवाद-गाँधीवाद', 'संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति', 'धनपति', 'मध्यवर्ग', 'कृषक', 'श्रमजीवी'-शीर्षक कविताओं में वैचारिकता की प्रधानता है। पंत ने इन विषयों पर कविता लिखकर हिन्दी कविता को नए युगबोध से जोड़ा। इन सबका लक्ष्य था जनसाधारण की प्रतिष्ठा। साहित्य की नई संस्कृति को व्यक्त करने में पंत ने काफी उत्साह दिखाया। अपने युग की नब्ज़ को पकड़ने में पंत को अतिरिक्त जागरूकता हासिल थी।

दलित-जीवन पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करनें वाले पंत स्त्री-जीवन के प्रति ज़्यादा ठोस विचार रखते हैं। वे मानते हैं कि स्त्री की मुक्ति उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व-निर्माण के द्वारा ही संभव है। पुरुष और पुरुषवादी मानसिकता से मुक्त होना स्त्री के लिए जरूरी है–

"छिन्न करो सब स्वर्ण पाश उसके कोमल तन मन के,
वे आभूषण नहीं, दाम उसके बन्दी जीवन के।''[35]

परंतु पंत की सीमा यह है कि वे स्त्री की मुक्ति के लिए पुरुषों का आह्वान करते हैं।

'युगांत' और 'युगवाणी' में यथार्थवाद की विभिन्न भंगिमाएँ दिखायी पड़ती हैं। भाषा का जनवादी रूप दिखाई पड़ने लगा था, हालाँकि अभी भी उस पर छायावादी भाषा का काफी असर था। पंत ने उस युग की समस्याओं और आवश्यकताओं को अत्यंत तीव्रता और बारीकी के साथ पकड़ा है। दलित और स्त्री से संबंधित कविताएँ यद्यपि भावनात्मक ज़्यादा हैं, यथार्थवादी कम; फिर भी इन विषयों पर विचार की ज़रूरत महसूस करना, रेखांकित करने योग्य है।

इस दौर में **महादेवी वर्मा** की महत्त्वपूर्ण काव्य रचनाएँ प्रकाशित हुईं। उनकी कविताओं का मूल स्वर नारीवादी है। स्त्री की मुक्ति का प्रयास उनकी अधिकांश रचनाओं में है।

1935 में **महादेवी वर्मा** 'चाँद' मासिक की संपादक बनीं। उन्होंने 'चाँद' के माध्यम से स्त्री-जीवन पर महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श किया। **महादेवी** की कविताओं को पढ़ते समय उनकी गद्य रचनाओं को देखना बहुत जरूरी है। उनकी गद्य रचनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि वे स्त्री-जीवन के प्रति भावुक और पंरपरागत दृष्टिकोण नहीं रखती हैं। उनके साहित्य का मूल स्वर **'मैं नीर भरी दुखकी बदली'** नहीं है, बल्कि वे स्त्री के अधिकारों और उसकी सर्वतोमुखी मुक्ति के प्रति सचेत हैं। 'चाँद' में स्त्री-जीवन से संबंधित, **महादेवी** के अनेक लेख छपे, जो बाद में (1942) **'शृंखला की कड़ियाँ'** शीर्षक से पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हुए। **महादेवी** की कविताओं को **'शृंखला की कड़ियों'** के साथ जोड़कर देखा जाए, तब स्पष्ट होगा कि उनकी कविताओं का नारीवादी स्वर कितना प्रखर और यथार्थवादी है। स्त्रीवादी आंदोलन को **महादेवी** की कविताओं से जोड़ने के कई कारण मौजूद हैं। डॉ० **मैनेजर पाण्डेय** ने 'शृंखला की कड़ियाँ और मुक्ति की राहें' नामक लेख में लिखा है, **"महादेवी वर्मा 'चाँद' से घनिष्ठ रूप से जुड़ी थीं। पहले एक कवि के रूप में और बाद में सम्पादक के रूप में। सन् 1935 में 'चाँद' का विदुषी अंक निकला, जिसका सम्पादन महादेवी वर्मा ने किया था। उन्होंने बाद में 'चाँद' के सम्पादन काल के दौरान एक ओर स्त्रियों को आत्म सजग बनाने का प्रयत्न किया तो दूसरी ओर नयी लेखिकाओं की खोज और उनकी रचनाओं के प्रकाशन का जरूरी काम भी किया। उन्होंने स्त्रियों में आत्मचेतना और आत्मविश्वास के विकास के लिए उनकी शिक्षा का प्रयास किया तो उनकी रचनाशीलता को आगे बढ़ाने के लिए महिला कवि सम्मेलन और महिला गल्प सम्मेलन का आयोजन भी किया था। इन सबके साथ ही उन्होंने तीस के दशक में ही मीरा जयंती मनाने की शुरुआत की थी, ताकि हिन्दी क्षेत्र की स्त्रियाँ मीरा के विद्रोही व्यक्तित्व से प्रेरणा लेकर अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष और सृजन के मार्ग पर आगे बढ़ सकें।"**[36]

महादेवी वर्मा ने लेखन और व्यवहार के द्वारा नारीवादी आंदोलन को हिन्दी क्षेत्र में गति दी। अत: उनकी कविता में इसकी चेतना को देखने की ज़रूरत है। **'शृंखला की कड़ियाँ'** का विस्तृत विश्लेषण अंतिम अध्याय **'आलोचनात्मक चेतना'** में करना उपयुक्त होगा। यहाँ केवल इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि महादेवी की कविताएँ स्त्री की संघर्षशीलता के पक्ष में हैं। वे समाज में स्त्री की स्वतंत्र पहचान बनाना चाहती हैं/इस क्रम में वे स्त्री-पुरुष के संबंधों पर भी विचार करती हैं। इन सब बातों का असर उनकी कविताओं पर है। अत: महादेवी की कविताओं को उनकी गद्य रचनाओं से जोड़कर देखा जाना चाहिए।

महादेवी वर्मा के गीतों का संग्रह **'सांध्यगीत'** 1936 ई० में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष कवि ने अपने पुराने

तीनों काव्य-संग्रहों के साथ **'सांध्यगीत'** को भी मिलाकर **'यामा'** नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित कराया। **'यामा'** में **'नीहार'**, **'रश्मि'**, **'नीरजा'** और **सांध्यगीत** के चुने हुए कुल तिरसठ (63) गीत हैं। इन चार चरणों (यामों) के गीतों से **महादेवी** की काव्य-यात्रा के विकास का पता चलता है। 1936 ई० में प्रकाशित **'यामा'** मानो **महादेवी वर्मा** के गीतों के माध्यम से स्त्री-जीवन के विकास को, उस दौर में, रेखांकित करने का प्रयास करती है। पुरुषवादी समाज में दबी स्त्री की बढ़ती जागरूकता को इन चरणों के माध्यम से देखा जा सकता है। छायावाद के इस अंतिम वर्ष में स्त्री अपनी अडिग इच्छाशक्ति को इन शब्दों में व्यक्त कर रही है–

"ताज है जलती शिखा
चिंगारियाँ शृंगारमाला,
ज्वाल अक्षय कोष सी
अंगार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुंदर हूँ।"

और अंत में, **"रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ।"**[37]

'जलती शिखा', **'चिनगारियाँ'**, **'ज्वाल'** और **'अंगार'** की कठिन परिस्थितियों को हँसकर पूरे साहस के साथ झेलती हुई औरत अंत में अपनी अदम्य इच्छाशक्ति को व्यक्त करते हुए कहती है कि रात के हृदय में दिवस की इच्छा रखने वाले तीर की तरह मैं बिंधी हुई हूँ। अर्थात् अपनी चतुर्दिक विपरीत परिस्थितियों को जीत लेने का साहस मुझमें है।

महादेवी अपने गीतों के विकास-क्रम में स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की तलाश निरंतर करती गयी हैं। **'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ'** में स्त्री के पुरुषमुक्त व्यक्तित्व का दावा पूरे आत्मविश्वास के साथ दिखाई पड़ता है–**'दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ!'**-तुमसे दूर रहकर भी मैं अखण्ड सुहागिनी रह सकती हूँ।

महादेवी ने प्रेम-गीतों के भीतर से पुरुषवादी वर्चस्व का विरोध किया है। यह विरोध कठोर मुद्रा लिए हुए प्राय: नहीं है। स्त्री-पुरुष की प्रेम-भावनाओं को पूरी संवेदनशीलता के साथ बचाते हुए **महादेवी** स्त्री के व्यक्तित्व के लिए निरंतर चिंतनशील हैं।

'कौन तुम मेरे हृदय में' की सुकोमल जिज्ञासा प्रेम में सराबोर है। **'जो तुम आ जाते एक बार'** तो आर्द्र नयन पलभर में हँस उठते, ओठों से विषाद धुल जाता, जीवन में वसंत छा जाता, प्राणों का तार-तार अनुराग से भरा हुआ उन्माद राग गा उठता। तुम चाहो तो मेरे बिखरे प्राणों में सारी करुणा ढुलका दो, मेरी छोटी सीमा में अपना अस्तित्व मिटा दो, किंतु मेरे प्राणों तक में समायी लज्जा समाप्त नहीं होगी।

भावुक प्रेम के ऐसे गीतों के भीतर से **महादेवी** की स्त्रीवादी चेतना उभरकर सामने आयी है। उनका स्त्रीवादी स्वर कहीं भी सतही और नाराबाजी नहीं है। **'मैं नीर भरी दुख की बदली'** को **महादेवी** का परिचय नहीं मानना चाहिए, इसे स्त्री समाज का सच भले ही माना जा सकता है; परंतु स्त्री इसी रूप में रहना नहीं चाहती। **'विस्तृत नभ का कोई कोना'** पाकर वह संतुष्ट होना नहीं चाहती, बल्कि संसार में अपने वजूद के लिए वह चिंतित है। इस गीत में स्त्री की दारुणदशा के साथ-साथ उसकी सकरुण संवेदनशीलता भी है। वह अपने

पग-पग को संगीत-भरा बताती है, अपनी **'साँसों से स्वप्न पराग'** के झड़ने के बात वह करती है। मतलब जीवन को सुखद और सार्थक बनाने में अपनी भूमिका को लेकर स्त्री को कोई संदेह नहीं हैं। उसे अफसोस है तो इस बात का कि **'परिचय इतना इतिहास यही/उमड़ी कल थी मिट आज चली'**। इस सच को वह बदलना चाहती है। सदियों से फैली इस **'रात के उर में दिवस की चाह का शर'** बनकर वह बिंध जाना चाहती है। इसके लिए दृढ़ संकल्प और अदम्य संघर्ष-क्षमता की ज़रूरत है। **महादेवी** स्वयं को संघर्ष की इस स्थिति में सक्षम महसूस करती हैं। उन्हें लगता है कि हम अपनी कमजोरियों के कारण भी पराजित होते हैं, पराजित करने के लिए हमेशा बाहरी तत्त्व ही कारण नहीं होते। अत: वे कामना करती हैं–

"तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना।
जाग तुझको दूर जाना।"[38]

महादेवी वर्मा के गीतों में प्रेम और प्रकृति को सर्वाधिक महत्त्व मिला है। शुद्ध प्राकृतिक कविताओं में भी स्त्री भावनाओं को ही व्यक्त करना उनका लक्ष्य है। प्रकृति की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति महादेवी में है, यद्यपि उनकी कविताओं का प्राकृतिक परिवेश बहुत सीमित है। प्रकृति के विविध रंगरूप उनकी कविताओं में नहीं मिलते हैं।

छायावाद का स्त्रीवादी स्वर दूसरे कवियों में भी है, किंतु **महादेवी** की कविताओं का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वर यही है। उन्होंने उस समय तक ही आधुनिक हिंदी कविता में सबसे मज़बूत तरीके से स्त्रीवादी चेतना का विकास किया। महादेवी की स्त्री **'संध्या-सुंदरी'**, **'अप्सरा'** या **'श्रद्धा'** नहीं है, वह स्त्रीवादी चेतना संपन्न आधुनिक नारी है जो प्रेम को सर्वाधिक महत्त्व देती है क्योंकि प्रेम में बराबरी का भाव होता है। **प्रसाद, निराला** और पंत की स्त्री संवेदनशील छायावादी पुरुषदृष्टि से निर्मित है, अत: उसमें पुरुषमन कहीं-न-कहीं हावी हो ही गया है। स्त्री को सुंदर देखने की इच्छा इन कवियों में 1936 ई० तक प्राय: नहीं दब पायी है। **महादेवी** की स्त्री सिंगार बहुत कम करती है। **'जाने किस जीवन की सुधि ले'** जैसे कुछ ही गीतों में वह सजती-सँवरती है। अन्यथा, वह तो अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की खोज में ही ज़्यादा चिंतित दिखाई पड़ती है।

1936 ई० की पत्रिकाओं में छपी कविताओं के अध्ययन से पता चलता है कि कवियों का दृष्टिकोण प्रकृति के प्रति महज छायावादी नहीं रह गया था। अब वे दुनिया को प्रकृति की मनमोहकता के माध्यम से ही देखना पसंद नहीं कर रहे थे। प्रकृति के प्रति उनका आकर्षण बरकरार था, किंतु ठोस जीवन-जगत् उन्हें ज़्यादा सच्चा और जीने लायक लगने लगा था। स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ी कविताएँ खुले आम छप रही थीं, जिनमें महात्मा गाँधी, तिरंगा आदि की चर्चा हुआ करती थी। जीवन की अपूर्णता को सत्य के रूप में देखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही थी। प्रेम के माध्यम से सबको बराबरी का हक़ दिलाने का प्रयास इन कविताओं में दिख रहा था।

'पंत' की कविता **'जीवन का फल'** (चाँद : मई 1936) में कवि का विचार है कि जीवन को समझो, उसके सुखों को ललचायी नज़र से देखते हुए संयम बनाए रखने की क्या ज़रूरत है, बल्कि–

तीखे, चमकीले दाँत चुभा
चाबो इसको, क्यों रहे लुभा?

निर्भीक बनो, साहसी शक्त,
जीवन-प्रेमी, मत हो विरक्त!''[39]

1936 ई० की कहानियों में भी संन्यास का कड़ा विरोध है, कविताओं में भी जीवन से विरक्ति का विरोध है। हिन्दी साहित्य अपने समग्र रूप में जीवनोन्मुख और संसार की सच्चाइयों के प्रति जागरूक हो रहा था।

प्रेम शक्ति है। मृत्यु के भय को प्रेम ख़त्म कर देता है। प्रेम की स्मृति कवि के दिलो-दिमाग में बसी है। 'तृप्ति' (चाँद : जून 1936) में **रामकुमार वर्मा** लिखते हैं–**'मेरे तन को छू वह तरङ्/है बैठ गई बन स्मृति-स्वरूप'** (पृ० 107)। मनुष्य के लिए प्रेम मुक्तिदायी है, हर तरह के भय से-**'मैं भूल गया हूँ मृत्यु आज'**। पर ऐसा नहीं है कि कवि किसी रोमानी दुनिया में जीने की इच्छा रख रहा हो-**'जीवन में इतना हुआ लीन'**-कवि इसी जीवन में लीन है। '36 का वर्ष रोमानियत और जीवन की वास्तविकता के संधिस्थल के रूप में कविताओं में दिखाई पड़ता है, रोमानियत से वास्तविकता की तरफ विकास-यात्रा शुरू हो रही है।

निराला की प्रसिद्ध कविता **'सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति'** (सरस्वती : जनवरी 1937) जनवरी 1937 ई० में छपी थी, पर **निराला** ने इसकी रचना 1936 ई० में ही की थी। **'अनामिका'** और **'निराला रचनावली, भाग-1'** में इस कविता का शीर्षक थोड़ा बदल दिया गया है-**'सम्राट् अष्टम एडवर्ड के प्रति'**। एडवर्ड ने मिसेज **सिम्पसन** से विवाह करने के लिए इंग्लैण्ड के सिंहासन को त्याग दिया था। **सिम्पसन** अमरीकी महिला थी और वह दो पतियों को तलाक दे चुकी थी। **निराला** ने प्रेमी सम्राट् की प्रशंसा में यह कविता लिखी थी। प्रेम को सत्ता से ज़्यादा महत्त्व देने के कारण **निराला** के लिए यह घटना महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। छायावादी कवि ने बीसवीं शताब्दी के साहित्यिक स्वर को इस घटना में सुना कि मानव-मानव से भिन्न नहीं होता, चाहे उसमें दुनियावी अंतर कितना ही क्यों न हो–

''विंशति शताब्दि,
धन के, मान के बाँध को जर्जर कर महाब्धि
ज्ञान का, बहा जो भर गर्जन–
साहित्यिक स्वर–
''जो करे गन्ध-मधु का वर्जन
वही नहीं भ्रमर;
मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न
भेद कर पङ्क
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक
हो कोई सर''

था सुना, रहे, सम्राट! अमर–

मानव के वर!''[40]

रुचि महत्त्वपूर्ण है, आदर्श नहीं। समाज की मर्यादाओं की तुलना में व्यक्ति की रुचि-अरुचि को निर्णय का आधार बनाया गया है। 'सजल गान' (विश्वमित्र : जून 1936) में परमानंद शुक्ल ने लिखा है–

''जो रुचि के अनुकूल न होवे/संवेदन, वह दुख है प्रियतम,/

जिसमें अपना मन रमता हो/उससे बढ़ सुख कौन मधुरतम?''[41]

जीवन की अपूर्णता को सच मानकर सुख उठाने दो, कविता की रुचि इसी में है कि उसके जीवन के अंधकार को मिटने मत दो। प्रकाश की आशा मत जगाओ। अंधकार में जीवन के खास सच को समझने का अवसर तो प्राप्त रहने दो। आदर्श जीवन की जगह अपूर्ण जीवन के सुख को पहचानने का प्रयास करना चाहिए। 'अपूर्ण छंद' (हंस : मार्च 1936) शीर्षक कविता में हरिकृष्ण प्रेमी ने मर-मिटने के 'जग-दुर्लभ आनंद' को प्राप्त करने की इच्छा जाहिर की है। छायावादी भाषा-शैली से मुक्त होने का प्रयास करती हुई यह कविता गैर-रोमानी भावबोध को प्रस्तुत कर रही है-

''दीप जला कर बार-बार।/ छीनो मत यह अंधकार।

चकाचौंध में चूक न जाऊँ निज कुटिया का राज-द्वार।

.....मत होने दो मर-मिटने का जग-दुर्लभ आनंद-मंद।''[42]

बन्देअली फातमी के 'गीत' (चाँद : अगस्त 1936) में संसार के प्रति आग्रह बढ़ता हुआ दिखाई दे रहा है। भाव-जगत् की जगह ठोस संसार के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो रहा है–

''बस यही धुन है कि मैं संसार को संसार दूँगा,

जो निराकारी उसे करके निरा साकार दूँगा,''[43]

स्त्री-पुरुष के बदलते हुए संबंधों पर रोशनी डालती हुई तोरनदेवी शुक्ल 'लली' की कविता है-'मैं' (चाँद: अक्टूबर, 1936)। पुरुष यह न समझे कि स्त्री सोई है, वह जाग चुकी है, वह सचेत हो चुकी है-

''वे अचेतन क्यों समझते

सजनि मैं तो जागती-सी''[44]

वह चाहती है कि उसे अच्छी तरह समझा जाए-

''ठहर जा टुक देख मेरे श्रान्त उर की भावनायें,

लहलहाती लालसायें, कर्मरत प्रिय कामनायें,''[45]

छायावादी कवि प्रकृति की रंग-बिरंगी सुंदरताओं में मनुष्यता की तलाश कर रहा था। वह प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूप की खोज करता हुआ मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए प्रयासरत था। 1936 ई० का कवि प्रकृति को माध्यम बनाना नहीं चाहता, मनुष्य के सत्य को वह प्रत्यक्ष देखना चाहता है। 'किरणों के प्रति (विशाल भारत : जनवरी 1936) शीर्षक कविता में चित्राभास' ने लिखा है–

सारे जग की सत्ता पर / तुमने यों रंग चढ़ाकर
रंगिणियों ! क्या पाया है/ भ्रम में आँखें उलझाकर?
हे कांत किरण बालाओ!/ अपना यह जाल हटाकर
टुक हमें देख लेने दो / संसृति का सत्य कलेवर।''[46]

यहाँ प्रकृति की सुंदरता को स्वीकारने के बावजूद, जीवन के सत्य को प्रत्यक्ष रूप से देखने की इच्छा व्यक्त की गयी है। **सुमित्रानंदन पंत** का प्रकृति-संबंधी दृष्टिकोण भी बदला हुआ दिखाई पड़ने लगा था। अब वे पहाड़ों की प्राकृतिक सुंदरता की जगह गाँवों की प्रकृति और ज़िन्दगी से जुड़ते हुए दिखाई पड़ रहे हैं। **'चिड़िया'** (चाँद: जुलाई 1936) शीर्षक कविता में **पंत** की नयी दृष्टि दिखाई पड़ रही है–

बाँसों की झुरमुट-/संध्या का झुटपुट-
हैं चहक रही चिड़ियाँ/टी-वी-टी-टुट्-टुट्!''[47]

'बाँसों का झुरमुट' हिन्दी कविता के सौंदर्य बोध में संभवत: पहली बार यहाँ स्वीकृत हुआ है। चिड़ियों की आवाज़ को नए शब्दों में लिपिबद्ध किया गया-**'टी-वी-टी-टुट्-टुट्।'**-प्रकृति का सूक्ष्म और नया अवलोकन। बाँस गाँव के पेड़ हैं, गाँव में अधिकांश श्रमजीवी हैं, जिनका जीवन कष्टमय है-

'ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन, भारी पग!''[48]

भारत के स्वाधीनता-आंदोलन का स्पष्ट असर इस वर्ष के साहित्य पर दिखाई पड़ रहा था। **मैथिलीशरण गुप्त** की कविता **'ध्वज-स्थापना'** (विशाल भारत: जनवरी 1936) में गाँधीजी के सत्याग्रह और अहिंसात्मक आंदोलनों की चर्चा बड़े गर्व के साथ की गई है। उस समय तक राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन में तिरंगा झंडा प्रयुक्त होने लगा था। वह आज़ादी का प्रतीक बन गया था। सफेद, हरा और केसरिया रंगों से बने तिरंगा झंडा की विशेषताओं को बताते हुए **गुप्तजी** लिखते हैं–

शुभ्र ज्ञान से, हरित कर्म से, अरुण भक्ति से छाई,
देखो, यह अपने अनंत में नई त्रिवेणी आई।
आओ, मगन रहें हम मिलकर प्रेम-तीर्थ-अनुयायी,
हिन्दू-मुसलमान-ईसाई, भारतीय सब भाई;''[49]

सब लोग मिलकर संघर्ष करें; धर्म के भेदभाव को भूल जाएँ। वस्तुत: यह तो कोई भेद ही नहीं है-**'सब विभु के बालक हैं।'** जाति-पाँति या छुआछूत बेकार की बातें हैं-**'पूत अछूत हमारे पावन'**। **गुप्तजी** के अनुसार **'आदर्शों के अनुरागी हम'**, इसलिए हमारें यहाँ श्रम का कोई शोषण नहीं-**'कर्मकार ही पूँजीपति हैं, कृषि-भूमि-पालक हैं'**। स्पष्ट है कि गुप्तजी का यह कथन आदर्शोन्मुख ही है, यथार्थ नहीं। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दरम्यान ऐसी अभिव्यक्ति प्राय: दिखाई पड़ती है, जो देश-प्रेम के उत्साह में की गई है। **महात्मा गाँधी** के द्वारा चलाए गए सत्याग्रह को भारतीयों ने अपना हथियार बना लिया है। अंग्रेज़ों के ख़िलाफ तिरंगा लेकर जूझने वाले भारतीयों को

हथियारों का कोई भय नहीं था–

"लिखा रहे जगती-तल में वह सत्याग्रह का साका,
हाथों में हथियार न थे, हाँ, थी बस एक पताका।
रोक न सका इसे बढ़ने से लोहे का भी नाका,
.....नरता के आगे बर्बरता देखें कब तक ठहरे?"[50]

'वह रूप' (विश्वमित्र: फरवरी 1936 ई०) शीर्षक कविता में श्रीमती तोरन देवी शुक्ल 'लली' ने परमशक्ति का आह्वान किया है कि भारत के सम्मान की रक्षा हो–

'जननी पद का सम्मान रहे,/ प्रिय भारत का अभिमान रहे,'[51]

श्री महिन्द की एक कविता 'निदहस् गीय: आज़ादी का गीत' (सिंहली भाषा, हंस : मार्च 1936) श्रीलंका की स्वतंत्रता से जुड़ी है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में छपने के कारण यह कविता महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी की पत्रकारिता कविताओं के चयन में समयबद्ध और सावधान है–

"एक ले बिन्दक् एक मिनिहेकुगेन् बैटे न
एक उल् पतक् नम् निदहस् गङ् गल न
एक एक्केना तमतम हद्वतिन गे न
एक णिनद् मनु मुलु सिरिलक तेमेन मे न"[52]

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य के शरीरसे गिरने वाली प्रत्येक बूँद स्वतंत्रता की नदी का आरम्भिक स्रोत है, इसलिए अपने-अपने हृदय से सभी रक्त की एक-एक बूँद बहाओ, जिससे सारी श्रीलंका भींग जाए।"

अनूदित कविताओं में भी हिन्दी साहित्य की बदलती दृष्टि का पता चलता है। राष्ट्रीय आंदोलन के भीतर से उत्पन्न हुए जनजागरण का असर हिन्दी साहित्य ग्रहण कर रहा था और अपनी अभिव्यक्ति से जनता की संवेदनाओं को पुष्ट भी कर रहा था। हाशिये पर के लोग साहित्य के केन्द्र में आने लगे थे, केवल हिन्दी साहित्य में ही नहीं, बल्कि दूसरी भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी। प्रगतिशील आंदोलन के अखिल भारतीय स्वरूप की पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। प्रगतिशील लेखक संघ की विधिवत शुरुआत उसके पहले अधिवेशन (9-10 अप्रैल 1936) से मानी जा सकती है, किंतु प्रगतिशील समझ को स्वीकृति मिलने की साहित्यिक मानसिकता उसके पहले से ही उत्पन्न हो रही थी। 'घराची आठव!: घर की याद (कोंकणी)' कविता (हंस : मार्च 1936) में श्री बिट्ठलकृष्ण नेरुरकर ने एक किसान की चिट्ठी को कविता का आधार बनाया है। उसका लड़का कराची-बम्बई की तरफ नौकरी कर रहा है। इस देश के लाखों ग्रामीण नौजवान शहर की तरफ मेहनत-मज़दूरी के लिए चले आते हैं। गाँवों में बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों की संख्या नौजवानों की तुलना में ज़्यादा है। गाँव की आर्थिक बदहाली और काम की कमी के कारण धन कमाने के लिए यह पलायन 1936 में भी हो रहा था और इस शताब्दी के अंतिम वर्षों में भी हो रहा है। गाँव में रहने वाले बूढ़े माँ-बाप, पत्नी और बच्चें की सारी उम्मीदें शहर गए नौजवानों से बँधी होती हैं। कोंकणी की उपर्युक्त शीर्षक कविता में किसान की मार्मिक चिट्ठी का जिक्र है। किसान घर की आर्थिक हालत की चर्चा करते हुए अपने बेटे को रुपये भेजने और किफायत से रहने

की सलाह दे रहा है–

म्हातारो म्हातारी घराकडे ठकलीं
नोटी थडेच नको बाँटव रे।।

अर्थात् **"यहाँ पर तुम्हारे दादा-दादी बूढ़े हो गये हैं। (उनको भूलकर) नोटों को वहीं मत खर्च कर डालना।"**

बालो बैल मेलो, भोरो रेडो बस लो
जोत कसाँ फाल्या उव्याँ खतालाँ।।

अर्थात् **"काला बैल मर गया। भूरा भैंसा बूढ़ा हो गया। अब मैं जोतने का क्या उपाय करूँ?"**[53]

इस कविता की प्रत्येक समस्या किसान-जीवन से जुड़ी है। कमाऊ बेटे को किसान बड़े मार्मिक ढंग से अपनी बात कह रहा है। 1936 ई० की हिंदी कविता ही नहीं; भारतीय कविता भी ठोस ज़मीन से जुड़ रही थी।

1936 ई० तक दलित जीवन से जुड़ी कविताएँ बहुत कम लिखी गयीं हैं। श्री **'सुन्दरम्'** की गुजराती कविता 'भंगड़ी' (हंस: जनवरी 1936) दलितों में भी सबसे दलित भंगी जाति की एक विडम्बना से जुड़ी है। गाँव की सेठानी मरती है। उसकी लाश पर एक हरी चुँदरी चढ़ाई गई थी। सेठानी की लाश को जलाते समय वह हरी चुँदरी हटा ली गई। जाहिर-सी बात है कि वह चुँदरी भंगी को मिली। परंपरा से मान्य है कि लाश पर पड़े कपड़े पर भंगी का अधिकार होता हैं। हरी चुँदरी को भंगी अपने घर ले आया। जब उसके बेटे की बरात निकली, तब उसकी पत्नी ने तमाम सिंगार करके हरी चुँदरी पहन ली–

"शेठाणी पहेरे चुंदड़ी रे,
रंग चुंदड़ी रे, ज्यारे निकले अेना, प्राण,
भंगड़ी पहेरे चुंदड़ी रे,
रंग चुंदड़ी रे, ज्यारे निकले छैयानी जान।"[54]

अर्थात् **"सेठानी चुँदरी पहनती है जब उसके प्राण निकलते हैं। भंगिनी चुँदरी पहनती है, जब उसके बेटे की बरात निकलती है।"**

सवर्ण की मौत और दलित की शादी के बीच हरी चुँदरी के बदले महत्त्व ने दोनों समुदायों के बीच की सामाजिक और आर्थिक विषमता को बहुत सहज ढंग से रख दिया है। परंपरा से चली आ रही आर्थिक कमज़ोरी और बदतर सामाजिक हैसियत ने दलितों को उपेक्षा का स्थायी पात्र बना दिया है। यहाँ आर्थिक कारण बहुत ही छोटा कारण है, असली कारण है जातीय स्थिति।

विवेच्य दौर की कविताओं में एकतरफ हिन्दी साहित्य की नई विकासोन्मुख प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। दूसरी तरफ उसी दौर में बड़ी संख्या में ऐसी कविताएँ लिखी गईं, जिनमें परिवर्तन को पहचानने का कोई प्रयास दिखाई नहीं पड़ता है। ऐसी रचनाओं का सौंदर्यबोध पुराना है। धर्म, रीति, वीरता, पवित्रता आदि मूल्यों से बँधी ये कविताएँ हमारे विश्लेषण के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

संदर्भ

1. नामवर सिंह – छायावाद, पृ० 152
2. मुक्ति बोध – मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, सं०–नमिचन्द्र जैन, पृ० 241
3. वही, पृ० 217-218
4. वही, पृ० 212
5. वही, पृ० 207
6. जयशंकर प्रसाद–कामायनी, पृ० 125
7. वही, पृ० 83
8. वही, पृ० 94
9. वही, पृ० 67
10. वही, पृ० 103
11. वही, पृ० 109
12. डॉ० रामविलास शर्मा–निरालां की साहित्य-साधना, द्वितीय खंड, पृ० 23
13. निराला-निराला रचनावली, खंड-1, पृ० 445
14. वही
15. वही, 440-441
16. वही, पृ० 438
17. वही
18. वही, पृ० 253
19. वही, पृ० 254
20. वही, पृ० 260
21. वही, पृ० 262
22. वही, पृ० 268
23. वही, पृ० 273
24. वही, पृ० 277-278
25. सुमित्रानंदन पंत–सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली, खंड-दो, पृ० 21
26. वही
27. वही
28. वही
29. वही पृ० 13

30. वही, पृ० 77
31. वही, पृ० 81
32. वही, पृ० 82
33. वही, पृ० 85
34. वही, पृ० 34
35. वही, पृ० 100
36. 'तद्भव' त्रैमासिक, अप्रैल 2000, अंक-3, पृ० 90-91
37. महादेवी वर्मा-यामा, पृ० 126-127
38. वही, पृ० 133
39. 'चाँद' मासिक–मई 1936, पृ० 01
40. 'सरस्वती' मासिक–जनवरी 1937, पृ० 01-02
41. 'विश्वमित्र' मासिक–जून 1936, पृ० 250)
42. 'हंस' मासिक–मार्च 1936, पृ० 36
43 'चाँद' मासिक–अगस्त 1936, पृ० 385
44. वही–अक्टूबर 1936, पृ० 531
45. वही
46. 'विशाल भारत' मासिक–जनवरी 1936, पृ० 56
47. 'चाँद' मासिक-जुलाई 1936, पृ० 213
48. वही
49. 'विशाल भारत' मासिक–जनवरी 1936, पृ० 01
50. वही
51. 'विश्वमित्र' मासिक–फरवरी 1936, पृ० 01
52. 'हंस' मासिक–मार्च 1936, पृ० 43
53. वही, पृ०, 37
54. 'हंस', मासिक–जनवरी 1936, पृ० 74

अध्याय-तीन

ग

द्य

सा

हि

त्य

अध्याय-तीन

गद्य साहित्य

चौथे दशक के परिवर्तनों और नई संवदेनाओं को 1936 के आस-पास के गद्य साहित्य में भली-भाँति देखा जा सकता है। हिन्दी का गद्य-साहित्य अपने समय के आंदोलनों, अपने दौर की समस्याओं और साहित्य की चिंताओं से जुड़कर नई संस्कृति को अभिव्यक्त कर रहा था। कहानी, उपन्यास, नाटक और निबंधों को देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस दौर की कविता की तुलना में, गद्य साहित्य अधिक यथार्थपरक था। कविता की भाषा और गद्य की भाषा में काफी अंतर दिखाई पड़ता है। 1936 की श्रेष्ठ कविता और श्रेष्ठ गद्य की भाषा में बहुत अंतर है। कविता पर छायावादी संस्कृतनिष्ठ और कोमलकांत-पदावली युक्त भाषा का असर है, जबकि गद्य साहित्य में प्राय: हिन्दू-उर्दू का मिलाजुला रूप दिखाई पड़ता है। **प्रेमचंद** के कथा-साहित्य और **निराला** की कविताओं (1936 के आस-पास की) की भाषा को आमने-सामने रखें, तो अंतर साफ-साफ दिखाई पड़ जाता है। **प्रेमचंद** बोलचाल की हिन्दी में लिख रहे थे, जबकि **निराला** की भाषा, उस समय तक, बोलचाल की भाषा से दूर थी।

प्रेमचंद ने किसान-जीवन को अपने उपन्यासों का कथ्य बनाया। **प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि'** और **'गोदान'** को मिलाकर पढ़ा जाए तो तत्कालीन किसान-जीवन से जुड़े अधिकांश पहलुओं को समझने में मदद मिल सकती है। इस अर्थ में **प्रेमचंद** के उपन्यास शुरू से ही यथार्थवाद की तरफ उन्मुख रहे हैं और वे उत्तरोत्तर यथार्थवादी होते गए हैं। **प्रेमचंद** के कथा-साहित्य में दलितों के बारे में बहुत कुछ लिखा गया है। प्रेमचंद की चिंता के केन्द्र में स्त्री भी है, खासकर सर्वहारा वर्ग की स्त्री।

इस दौर के गद्य साहित्य के निर्माण में **प्रेमचंद** की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कथ्य और भाषा, दोनों दृष्टियों से उन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। **प्रेमचंद** ने किसान, दलित, स्त्री, मज़दूर, वेश्या, भिखारी आदि को साहित्य की चिंताओं में मुख्य स्थान दिलाया। वस्तुत: स्वाधीनता आंदोलन के दौरान विभिन्न वर्गों में मुक्ति की चेतना का विकास हो रहा था, जिसकी पहचान **प्रेमचंद** को थी और उन्होंने उस नई चेतना को अपने साहित्य में जगह दी। प्रेमचंद ने हमेशा प्रयास किया कि समस्याओं की सच्ची तस्वीर पेश की जाए। कुछ रचनाओं में उन्होंने निष्कर्ष के तौर पर, तत्कालीन आंदोलनों के द्वारा दिए गए समाधान, भी प्रस्तुत किए हैं हालाँकि ये समाधान **प्रेमचंद** की रचनात्मक कमजोरी के रूप में रेखांकित किए गए हैं। परन्तु वहाँ भी समस्याओं का विश्लेषण उन्होंने पूरी सच्चाई के साथ किया है।

जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र कुमार, राधिकारमण प्रसाद सिंह, निराला, वृन्दावनलाल वर्मा, ऋषभचरण जैन,

उषादेवी मित्रा आदि के उपन्यासों और कहानियों में साहित्य की नई संस्कृति के दर्शन होते हैं। उन रचनाओं के विश्लेषण के द्वारा देखा जा सकता है कि पूरे हिन्दी साहित्य में नई चेतना का विकास किस तरह हो रहा था, हालाँकि अभी भी पुरानेपन का रंग बाकी था। परंतु उस पुरानेपन में भी नवीनता की तरफ उन्मुख होने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही थी।

पहले अध्याय में हमने राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और हिन्दी साहित्य की जिन चिंताओं की चर्चा की है, उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति 1936 की रचनाओं में व्यापक तौर पर दिखाई पड़ती है। इसलिए यह कहना कि 1936 में यथार्थवादिता और जनोन्मुखता की प्रवृत्ति को **'प्रगतिशील लेखक संघ'** और **'प्रगतिवाद'** के द्वारा आरोपित किया गया है, ठीक नहीं है। प्रलेस और प्रगतिवाद की भूमिका को नकारात्मक दृष्टि से देखने के कारण ऐसी समझ बनायी गयी है। वास्तव में, हिन्दी समाज और साहित्य की यथार्थवादी और जनोन्मुख चेतना के विकसित होने की प्रक्रिया में प्रलेस और प्रगतिवाद का जन्म हुआ। 1936 की कहानियों, उपन्यासों, नाटकों आदि में हम इस नई चेतना को रेखांकित करेंगे। उस दौर की कविताओं का विश्लेषण पिछले अध्याय में हो चुका है और अनेक प्रमाण दिए जा चुके हैं कि किस तरह हिन्दी कविता साहित्य की नई चेतना और नई संस्कृति के निर्माण की तरफ अग्रसर थी। वह उत्तरोत्तर यथार्थवाद के रास्ते पर जा रही थी।

हिन्दी साहित्य के यथार्थवादी रुझान की खोज प्रगतिवाद में न करके तीसरे और चौथे दशक के साहित्य में की जानी चाहिए, जिसकी सशक्त अभिव्यक्ति 1936 में कई रूपों में हुई। 1920-40 की परिवर्तनकामी ऐतिहासिक शक्तियों को साहित्यिक मंच 1936 में प्रगतिवाद के माध्यम से मिला। 1936 का यही महत्त्व है कि पिछले पंद्रह-बीस वर्षों की यथार्थ चेतना को पूरी तरह खुलने का मौका उसने प्रगतिशील लेखक संघ, प्रगतिवाद और छायावाद के अंत के माध्यम से दिया।

1936 की पत्रिकाओं में छपी छोटी-बड़ी रचनाओं की यथार्थ चेतना इसी दिशा में अग्रसर है। अनेक साधारण लेखकों की रचनाओं पर भी इस प्रवृत्ति का असर मिलता है। उस वर्ष की पत्रिकाओं के माध्यम से पूरे वर्ष की साहित्यिक गतिविधियों का पता चलता है। विभिन्न अध्यायों में मैंने आवश्यकतानुसार पत्रिकाओं में छपी रचनाओं का हवाला देकर यथार्थवादी प्रवृत्तियों को रेखांकित किया है।

प्रेमचंद के जीवन-काल के **'हंस'** का अंतिम अंक–सितम्बर 1936—में **'महाजनी सभ्यता'** नामक उनका लेख छपा। **प्रेमचंद** ने इस लेख में पूँजीवादी व्यवस्था के शोषक रूप को दिखाया। उन्होंने दुनिया के मनुष्य-समाज को दो हिस्सों में बँटा हुआ दिखाया, **"बड़ा हिस्सा तो मरने और खपने वालों का है, और बहुत ही छोटा हिस्सा उन लोगों का जो अपनी शक्ति और प्रभाव से बड़े समुदाय को अपने बस में किए हुए हैं। उन्हें इस बड़े भाग के साथ किसी तरह की हमदर्दी नहीं, ज़रा भी रू-रियायत नहीं। उसका अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपने मालिकों के लिए पसीना बहाए, खून गिराए और एक दिन चुपचाप इस दुनिया से विदा हो जाए।"**[1]

होरी **'महाजनी सभ्यता'** में धीमी गति से पिसता हुआ मर जाता है। वह मेहनतकश सीमांत किसान है। वह **'मरने और खपने वालों'** में से है। उसे मारने और खपाने वालों की लम्बी तादाद **'महाजनी सभ्यता'** में गाँव

से लेकर शहर तक में लगी है।

'गोदान' (1936) प्रेमचंद का सर्वाधिक यथार्थवादी उपन्यास है। किसानों के लिए किसी भी तरह के 'आश्रम' का विकल्प यहाँ समाप्त हो गया है। मौजूदा किसान आंदोलनों को दरकिनार कर, किसानों को उनकी अपनी 'कर्मभूमि' में देखने का प्रयास प्रेमचंद ने 'गोदान' में किया है। इस उपन्यास में किसी भी किसान आंदोलन की चर्चा नहीं है। गोबर लखनऊ की मज़दूर सभाओं में भाषण सुनने जाता है। मिल के मज़दूरों की हड़ताल और उसके दमन की चर्चा भी यहाँ हुई है। किंतु 'गोदान' का लक्ष्य किसान है, मज़दूर नहीं।

'गोदान' में सीमांत किसान के मज़दूर बनने की प्रक्रिया को रेखांकित किया गया है। होरी अपने प्रयासों के बावजूद किसान नहीं रह पाता, उसके खेत बिक जाते हैं और उसे मज़दूर बनना पड़ता है। होरी के बाद की पीढ़ी का गोबर किसान-जीवन की विसंगतियों के कारण मज़दूर बन जाता है। प्रेमचंद ने होरी पर ज़्यादा ध्यान दिया है, गोबर के शहरी जीवन पर कम।

प्रेमचंद होरी की समस्याओं को व्यवस्था के स्तर पर देखने का प्रयास करते हैं। 'महाजनी सभ्यता' अर्थात् पूँजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण बड़े-बड़े बैंक खुले, जहाँ ब्याज पर धन लेने-देने की कानूनी व्यवस्था है। इसका असर गाँवों तक फैला। भारत में व्यापारिक पूँजीवाद के आगमन के बाद से गाँवों में भी सूद पर कर्ज देने का बोलबाला हुआ। गाँव का प्रत्येक धनवान् व्यक्ति सूद पर कर्ज देने का धन्धा करने लगा। 'गोदान' के पंडित दातादीन से लेकर दुलारी सहुआइन तक सूद कमाने का धन्धा करते हैं। यहाँ तक कि शहर में मज़दूरी करने वाला गोबर भी ब्याज पर कर्ज देता है। ढहते हुए सामंतवाद के प्रतिनिधि रायसाहब चुनाव लड़ने के लिए बैंकर मिस्टर खन्ना से कर्ज लेते हैं सामंवाद धीरे-धीर पूँजीवाद की चपेट में आ रहा था। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, **'गोदान' में किसानों के शोषण का रूप ही दूसरा है। यहाँ सीधे-सीधे रायसाहब के कारिंदे होरी का घर लूटने नहीं पहुँचते। लेकिन उसका घर लुट ज़रूर जाता है। यहाँ अंग्रेज़ी राज के कचहरी-कानून सीधे-सीधे उसकी ज़मीन छीनने नहीं पहुँचते। लेकिन ज़मीन छिन ज़रूर जाती है। होरी के विरोधी बड़े सतर्क हैं। वे ऐसा करने में झिझकते हैं जिससे होरी दस-पाँच को इकट्ठा करके उनका मुकाबला करने को तैयार हो जाए। वह उनके चंगुल में फँसकर तिल-तिल कर मरता है लेकिन समझ नहीं पाता कि यह सब क्यों हो रहा है।। वह तक़दीर को दोष देकर रह जाता है; समझता है; यह सब भाग्य का खेल है, मनुष्य का इसमें कोई बस नहीं।''**[2]

प्रेमचंद अच्छी तरह समझ रहे थे कि नई अर्थव्यवस्था पूँजी के माध्यम से उत्पादन के साधनों पर काबिज है और बाज़ार पर उसका पूरा नियंत्रण है। किसान इस विशाल अर्थव्यवस्था के आगे घुटने टेकने को मज़बूर है। होरी के माध्यम से प्रेमचंद ने इन तमाम मज़बूरियों को 'गोदान' में व्यक्त किया है। होरी पर राय साहब का दबाव है। धर्म के नाम पर पंडित दातादीन भी आर्थिक शोषण करता है। विधवा झुनिया के साथ गोबर के अंतर्जातीय विवाह-संबंध के कारण होरी पंचायत में आर्थिक दण्ड भरता है। बड़ी बेटी की शादी के लिए दुलारी सहुआइन से उसे कर्ज लेना पड़ता है और छोटी बेटी को तो वह बेच ही देता है। अंत में उसकी स्थिति कर्ज प्राप्त करने लायक भी नहीं रह जाती है। होरी सब तरफ से आर्थिक दबाव झेलकर अपनी ज़मीन से बेदखल हो जाता है और मज़दूर बनकर अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है।

महाजनी शोषण का चक्का गाँव-गाँव तक पहुँच चुका है, जिसका सबसे बड़ा शिकार किसान-वर्ग है। 'गोदान' में प्रेमचंद ने किसानों की समस्याओं को इन तमाम जटिलताओं के साथ उठाया है। यहाँ किसान के शोषण को सरलीकृत करके बिल्कुल नहीं देखा गया है; बल्कि उन तमाम शोषक शक्तियों की पहचान की गयी है, और यह भी दिखाया गया है कि ये शोषक शक्तियाँ किस तरह, किसानों के विरुद्ध आपसे में संगठित हैं।

प्रेमचंद ने 'गोदान' में किसानों के हित के लिए किसी भी राजनीतिक संगठन की लाइन नहीं ली है। 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' पर गाँधीवाद और काँग्रेस के किसान-कार्यक्रमों का असर है। हालाँकि प्रेमचंद शुरू से यथार्थवादी रुझान के लेखक रहे, किंतु 'गोदान' में उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा ज़्यादा मँजा हुआ दिखाई पड़ता है।

किसान-जीवन की घरेलू समस्याओं को 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' की तुलना में ज़्यादा जीवंत ढंग से 'गोदान' में उठाया गया है। होरी के संयुक्त परिवार का अलग्योझा, होरी-धनिया के खट्टे-मीठे संबंध, गाय के प्रति किसान परिवार की ललक, दलित सीलिया के प्रति धनिया का दयाभाव आदि घरेलू प्रसंगों के माध्यम से प्रेमचंद ने किसान-जीवन को नज़दीक से उकेरा है।

दलित सीलिया और ब्राह्मण मातादीन के संबंधों के प्रति प्रेमचंद का रवैया बहुत सख्त दिखायी पड़ता है। दलित-जागरण को पूरी दृढ़ता से इस प्रकरण में उन्होंने दिखाया है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था दलित सीलिया को किसी भी तरीके से ब्राह्मण नहीं बना सकती थी, मगर चमारों ने एक बड़ी-सी हड्डी ब्राह्मण मातादीन के मुँह में ठूँसकर उसे चन्द मिनटों में चमार बना दिया। अन्य कहानियों और उपन्यासों की तुलना में प्रेमचंद दलित-जागरण के आक्रोश को ज़्यादा मज़बूती से 'गोदान' में पेश कर रहे थे।

प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' और 'कर्मभूमि' में भी गाँव की कहानी के साथ-साथ शहरी कथा को रखा था; परंतु 'गोदान' में दोनों कथाएँ अपेक्षाकृत, उपन्यास के उद्देश्य की दृष्टि से, ज़्यादा क़रीब और उचित बन गयी हैं। 'महाजनी सभ्यता' से त्रस्त किसानों के असली सूत्रधार तो शहरों में बैठे थे। सीमांत किसान बेबस होकर शहरी मज़दूर बन रहा था। अत: ग्रामीण शोषण को दिखाने के लिए शहर की कथा जरूरी थी; जहाँ जमींदार राय साहब, बैंक और मिल-मालिक खन्ना आदि बैठे थे, ताकि किसानों के असली शोषकों तक पहुँचा जा सके। शहरी मज़दूर बने गोबर-जैसे किसानों के बारे में लिखना 'गोदान' का उद्देश्य नहीं था, अत: इस शहरी जीवन की चर्चा संक्षेप में हुई है।

प्रेमचंद 'गोदान' में आकर किसान-जीवन से जुड़े लगभग सभी आदर्शों से मुक्त हो जाते हैं। अब वे किसानों के लिए किसी यूटोपियाई व्यवस्था की कल्पना नहीं करते बल्कि किसान-जीवन के विश्लेषण और उनके असली दुश्मनों की पड़ताल करना अपना उद्देश्य बनाते हैं। प्रेमचंद जब 'गोदान' लिख रहे थे, भारत में राजनैतिक रूप से किसान-आंदोलन तेज़ हो चले थे। वे इन राजनैतिक किसान-आंदोलनों की सीमाओं को जान-समझकर 'कर्मभूमि' में उतारने का प्रयास कर चुके थे। 'गोदान' में उन्होंने किसानों को आंदोलनों से अलग करके देखा है 'होरी' को किसी भी राजनीति या आंदोलन की कोई ख़बर नहीं है। गोबर शहर में जाकर इन बातों से जुड़ता है। होरी को उसके अपने परिवेश में प्रेमचंद ने देखा है, किसी आंदोलन की नज़र से नहीं। इसका यह मतलब

नहीं निकाला जाना चाहिए कि प्रेमचंद किसान-आंदोलनों या राजनीति से निराश या तटस्थ हो गये थे। उपर्युक्त विरोधाभास को उनके कथन से ही समझा जा सकता है, "**वह (साहित्यकार) देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई है।**"[3]

प्रेमचंद किसानों से जुड़े राजनीतिक आंदोलनों और आंदोलनों की राजनीति के '**आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सचाई**' को '**गोदान**' में पेश कर रहें थे। '**गोदान**' में उन मद्दों को उठाया गया है जो उस समय तक किसान-आंदोलन में शामिल नहीं हो पाए थे। किसान को मज़दूर बनाने के लिए ज़िम्मेदार तत्त्वों की खोज **प्रेमचंद** ने की। ऋण-माफी और किसान को ज़मीन से बेदखल न किए जाने के मुद्दे बहुत बाद में किसान-आंदोलन से जुड़ पाए। होरी अनावश्यक ऋणों के दबाव से जमीन छोड़ने को मज़बूर हुआ, भारत के करोड़ों किसानों की यही हालत थी।

इस तरह, 1936 तक आते-आते **प्रेमचंद** की यथार्थवादी दृष्टि क्रमशः परिपक्व होती गयी थी। '**गोदान**' में किसान-जीवन की त्रासदी के साथ उनकी छोटी-छोटी आकांक्षाएँ और खुशियाँ भी व्यक्त हुई हैं। होरी केवल दुखी किसान के रूप में प्रकट नहीं हुआ है, बल्कि उसके पारिवारिक जीवन में आने वाले उल्लास और उम्मीदों की पहचान भी प्रेमचंद ने की है।

प्रेमचंद का अंतिम उपन्यास '**मंगलसूत्र**' (1936) पूरा नहीं हो पाया। उन्होंने बीमारी की हालत में इसे शुरू किया था और अधूरा छोड़कर ही मृत्यु को प्राप्त हो गए। फिर भी, '**मंगल सूत्र**' की कई बातें हमारे शोध-कार्य में सहायक हैं।

'**मंगल सूत्र**' में **प्रेमचंद** ने, अपने पहले के लेखन से अलग हटकर, नई कथावस्तु को अपनाया। कहा जा सकता है कि **प्रेमचंद** अपने लेखकीय जीवन के अनुभवों को इसमें उतारना चाहते थे। '**मंगलसूत्र**' में **देवकुमार** नामक एक लेखक की कथा है, जो चार अध्यायों तक ही लिखी जा सकी। देवकुमार साहित्य-साधना में लगे रहने वाले आदर्शवादी लेखक हैं। वे किसी के दबाव में आकर या आर्थिक लाभ के लिए साहित्य-रचना नहीं करते। इसके कारण उन्हें भौतिक जीवन में सुख तो नहीं मिला, पर ख्याति बहुत मिली। उनके दो लड़के और एक लड़की हैं। बड़ा लड़का वकील सन्तकुमार जीवन में सुख और ऐश्वर्य चाहता है, इसलिए पिता के आदर्श-जीवन से सहमत नहीं है। छोटा लड़का साधुकुमार अपने पिता से सहमत तथा उन्हीं की तरह आदर्शवादी है। पुत्री पंकजा का विवाह वे करने वाले हैं।

प्रेमचंद ने '**मंगलसूत्र**' में हिन्दी के एक अच्छे और सच्चे लेखक की समस्याओं को उठाया है। **निराला** ने भी हिन्दी के लेखकों की समस्याओं को अपनी विभिन्न रचनाओं में उठाया है। '**सरोज-स्मृति**', '**मित्र के प्रति**', '**हिन्दी के सुमनों के प्रति**' आदि कविताओं में निराला ने लेखक के मान-सम्मान तथा आर्थिक बदहाली को बार-बार उठाया है। **प्रेमचंद** ने '**मंगलसूत्र**' में लेखक की उस स्थिति को दिखाया है, जहाँ यश तो है पर पैसा नहीं के बराबर-"**साहित्य-सेवा के सिवा उन्हें और किसी काम में रुचि न हुई और यहाँ धन कहाँ? हाँ, यश मिला, और उनके आत्मसंतोष के लिए इतना काफी था।**"[4]

पर केवल '**आत्मसंतोष**' के सहारे कठोर आर्थिक आवश्यकताओं को नकारा तो नहीं जा सकता है। लेखक अपने कर्त्तव्य को पूरी निष्ठा से पूरा भी करता चले और उसकी मेहनत का आर्थिक लाभ भी उसे प्राप्त हो–यह '**महाजनी सभ्यता**' में संभव नहीं। **प्रेमचंद** व्यापक पैमाने पर आर्थिक गैर-बराबरी को '**मंगलसूत्र**' में देख रहे थे। किसान, मज़दूर के बाद बुद्धिजीवी के शोषण को अपने उपन्यास का विषय बनाते हुए **प्रेमचंद** ने मानो शोषितों को एकजुट होने का रास्ता दिखाया। एक तरह से, उन्होंने बुद्धिजीवियों को बताया कि '**महाजनी सभ्यता**' का मुकाबला करना है तो किसान-मज़दूर को साथ लो। **प्रेमचंद** ने किसान, मज़दूर और बुद्धिजीवी को एक मंच पर खड़ा तो नहीं किया, किंतु उनका लेखन तमाम शोषितों की तरफ खड़ा होकर विरोधियों के खिलाफ संघर्ष कर रहा है।

उदारीकरण और भूमंडलीकरण के इस दौर में '**समान अवसर**' का दावा पेश करने वाली पूँजीवादी व्यवस्था दरअसल आर्थिक गैर-बराबरी को और बढ़ाना चाहती है। इस '**समान अवसर**' के पीछे पूँजीपति को लूटने की छूट देने की व्यवस्था की गई है। **प्रेमचंद** 1936 में इस साजिश को अच्छी तरह समझ रहे थे, जिसे आज '**आर्थिक सुधार**' का नाम देकर भारत की अर्थव्यवस्था को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हवाले किया जा रहा है। लेखक देवकुमार के मानसिक द्वन्द्वों के माध्यम से **प्रेमचंद** इस साजिश को पेश करते हैं–"**बुद्धि जबाव देती–यहाँ सभी स्वाधीन हैं, सभी को अपनी शक्ति और साधन के हिसाब से उन्नति करने का अवसर है। मगर शंका पूछती है–सब को समान अवसर कहाँ है? बाज़ार लगा हुआ है, जो चाहे वहाँ से अपनी इच्छा की चीज़ खरीद सकता है, मगर खरीदेगा तो वही जिसके पास पैसे हैं? और जब सबके पास पैसे नहीं हैं तो सब का बराबर अधिकार कैसे माना जाय?**"[5]

इसलिए जरूरी है कि सब लोगों को मिलजुलकर इस व्यवस्था का विरोध करना चाहिए। किसान-मज़दूर तो सक्रिय हैं ही, बुद्धिजीवियों को सक्रिय होने की जरूरत है। बुद्धिजीवी होने के नाम पर निष्क्रिय विचार-विमर्श करते रहना ठीक नहीं। जिनके खिलाफ बुद्धिजीवी मौखिक विरोध प्रकट करते हैं, उनके खिलाफ सक्रिय विरोध करना होगा। अन्याय को देवता बनकर सहते जाना प्रशंसनीय नहीं है, बल्कि कायरता और जड़ता है–"**और यहाँ देवता बनने की ज़रूरत भी नहीं। देवताओं ने ही भाग्य और ईश्वर और भक्ति की मिथ्याएँ फैलाकर इस अनीति को अमर बनाया है। मनुष्य ने अब तक इसका अंत कर दिया होता या समाज का ही अंत कर दिया होता जो इस दशा में ज़िन्दा रहने से कहीं अच्छा होता। नहीं, मनुष्यों में मनुष्य बनना पड़ेगा। दरिन्दों के बीच में उनसे लड़ने के लिए हथियार बाँधना पड़ेगा। उनके पंजों का शिकार बनना देवतापन नहीं जड़ता है।**"[6]

1936 के दोनों उपन्यासों–'**गोदान**' और '**मंगलसूत्र**'-में **प्रेमचंद** अपने समय की ऐतिहासिक शक्तियों को पहचानते हुए जनविरोधी ताकतों के खिलाफ लिख रहे थे। उनके लेखन से बाद के प्रगतिवादी साहित्य को गति और दिशा मिली। **प्रेमचंद** का साहित्य हिन्दी में प्रगतिवादी प्रवृत्ति का अक्षय स्रोत है, जिसकी रचना '**प्रगतिशील लेखक संघ**' की स्थापना से पहले हो चुकी थी।

प्रेमचंद के अलावा अन्य उपन्यासकारों के उपन्यासों में भी साहित्य की बदलती हुई संस्कृति और बनती हुई नयी चेतना को देखा जा सकता है। '**विराटा की पद्मिनी**' (1936) में **वृन्दावनलाल वर्मा** ने कुमुद और कुंजर

के प्रेम को झाँसी के लोक-जीवन से प्राप्त इतिहास के परिप्रेक्ष्य में पेश किया हे। कुमुद ब्राह्मण कन्या है, जिसे लोग अवतार मानते हैं। कुंजर राजा का दासीपुत्र है। जातिवादी समाज कुंजर को, योग्य होने के बावजूद, दासी-पुत्र होने के कारण सत्ता से बाहर कर देता है। संकीर्ण समाज को अवरोधों के कारण कुमुद और कुंजर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। हिन्दी के एतिहासिक उपन्यासों में यह महत्त्वपूर्ण उपन्यास है, जहाँ वर्तमान समस्याओं को उठाया गया है।

'राम-रहीम' (1936) में **राधिकारमण प्रसाद सिंह** ने भारतीय और पाश्चात्य सभ्यताओं की पृष्ठभूमि में बेला और बिजली नामक दो स्त्रियों को प्रतिनिधि पात्र के रूप में चित्रित किया है। भारतीय और पाश्चात्य सभ्यता की श्रेष्ठता को लेकर उन दिनों चलने वाली बहसों का असर इस उपन्यास पर है। प्राय: बताया जाता था कि भारतीय सभ्यता प्राचीन, पवित्र और आदर्शवादी है, जबकि पाश्चात्य सभ्यता भौतिकवादी, स्वच्छन्द और अवसरवादी है। इस उपन्यास की भूमिका में लेखक ने लिखा है कि उसके उपन्यास में यथार्थवाद के मौसम में आदर्शवाद के छींटे हैं। **राधिकारमण** ने भारतीय नारी की धर्मपरायणता, त्यागमयता आदि की तुलना में पाश्चात्य नारी की धर्मविमुखता, भोग-प्रवृत्ति और मौज-मस्ती को रखा है। ऐसा करके उन्होंने एकतरफ तो भारतीय नारी का पक्ष लिया है, परंतु दूसरी तरफ उन्होंने भारतीय समाज द्वारा इन आदर्शों की आड़ में स्त्री पर किए जाने वाले अत्याचारों का भी विश्लेषण किया है। उन्होंने भारत के पुरुष समाज को सावधान किया है कि यदि औरतों पर इसी तरह अत्याचार होता रहा तो वे पश्चिमी सभ्यता की तरफ उन्मुख हो जाएँगी। **राधिकारमण** भारतीय सीमाओं के भीतर स्त्री-जीवन में सुधार के पक्ष में हैं।

उषा देवी मित्रा के उपन्यास प्रेम-प्रधान हैं। इनमें आदर्श प्रेम का निर्व्याज समर्पण है। इनकी नायिकाएँ भावुक, त्यागी और महिमावान् हैं। 'वचन का मोल' (1936) की नायिका **कजरी** आजीवन अविवाहित रह जाती है। वह अपने एकनिष्ठ प्रेम के प्रति प्रतिबद्ध होने के कारण, असफलता के बावजूद, एकाकी जीवन व्यतीत करती है। यह ठीक है कि **उषादेवी** मित्रा के इस उपन्यास में स्त्री का आदर्शवादी त्याग ही दिखाई पड़ता है, स्त्री का कोई यथार्थवादी प्रयास इसमें नहीं है। दरअसल उस युग मेंएक स्त्री लेखक के द्वारा स्त्री के स्वतंत्रत व्यक्तित्व को खड़ा करने का प्रयास करना भी महत्त्वपूर्ण है।

निराला के दो उपन्यासों–'निरुपमा' और 'प्रभावती'-का प्रकाशन 1936 में हुआ। दोनों उपन्यास रोमानी दृष्टिकोण से लिखे गए और असफल हुए। इनका महत्त्व इस रूप में है कि इनमें छायावादी गद्य का निखरा हुआ रूप दिखाई पड़ता है।

'मंदिर दीप' और 'बुरका फ़रोश' भी 1936 में प्रकाशित हुए। इन दोनों उपन्यासों में **ऋषभचरण जैन** ने प्रेम को प्रतिष्ठित करना चाहा है। स्त्री-पुरुष के संबंधों में वासना को आधार बनाने का विरोध करना, इन दोनों उपन्यासों का लक्ष्य है। यह अलग बात है कि लेखक की रुचि वासना में ज़्यादा रमी है, प्रेम में कम।

इस तरह, 1936 के हिन्दी उपन्यासों में उस दौर की चेतना और चिंता को व्यक्त होने का पूरा अवसर मिला है। **प्रेमचंद** के उपन्यासों में किसान, मज़दूर, बुद्धिजीवी वर्ग को नयी चेतना का संवाहक बनाया गया। दूसरे उपन्यासकारों ने प्रेम, वासना, भारतीय और पाश्चात्य सभ्यता, स्त्री-जीवन आदि के माध्यम से साहित्य की बनती

हुई प्रगतिशील संस्कृति को व्यक्त किया।

1936 में कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ छपीं। विभिन्न पत्रिकाओं में बड़ी संख्या में इस वर्ष भी कहानियाँ छपीं। जयशंकर **प्रसाद** का कहानी-संग्रह **'इंद्रजाल'** 1936 का सबसे महत्त्वपूर्ण चयन है। इसमें चौदह कहानियाँ संगृहीत हैं और यह **'प्रसाद'** का अंतिम कहानी-संग्रह है-1. इंद्रजाल 2. सलीम 3. छोटा जादूगर 4. नूरी 5. परिवर्तन 6. सन्देह 7. भीख में 8. चित्रवाले पत्थर 9. चित्र-मंदिर 10. गुण्डा 11. अनबोला 12. देवरथ 13. विराम चिह्न 14. सालवती।

'इंद्रजाल' की अधिकतर कहानियों में रोमानियत है। स्त्री-पुरुष के प्रेम को केन्द्र में रखकर **प्रसाद** की अधिकांश कहानियाँ निर्मित हुई हैं। यह ध्यान देने की बात है कि **प्रेमचंद** की कहानियों में **स्त्री-पुरुष के प्रेम का चित्रण प्राय: नहीं के बराबर हुआ है। इस कमी को प्रसाद** की कहानियाँ पूरी करती हैं। इनमें इतिहास और कल्पना को मिला-जुलाकर रोमानी अंदाज में **प्रसाद** ने अपनी बात कही है। रोमानियत के गहरे रंग के बावजूद **जयशंकर प्रसाद** की कहानियों में गहरा यथार्थबोध है। रोमानी ढंग से यथार्थ को पेश करने की कला **प्रसाद** की विशेषता है।

युवक-युवती के प्रेम-संघर्ष को आधार बनाकर लिखी गयी इन कहानियों में मुक्ति की चेतना का जोरदार समर्थन है। ये युवक-युवती अपने प्रेम-संबंध के लिए प्राय: सत्ता से लोहा लेते हुए दिखाए गए हैं। **'इन्द्रजाल'** कहानी में गोली और बेला के प्रेम को नाटकीय ढंग से सफलता प्राप्त कराया गया है। इसमें सत्ताधारी ठाकुर को गोली छल से पराजित करके अपनी प्रेमिका को मुक्त कराता है।

'सलीम' कहानी भावबोध की दृष्टि से अपेक्षाकृत नई है। साम्प्रदायिक कट्टरता का अत्यंत सरलता से जवाब देने का प्रयास इस कहानी में हुआ है। अकेला हिन्दू **नन्दराम** अपनी पत्नी **प्रेमकुमारी** के साथ मुसलमान पठानों के गाँव में पूरे सम्मान और पूरी सुरक्षा के साथ रहता है। साम्प्रदायिक हस्तक्षेपों का वे डटकर मुकाबला करते हैं और कहानी के अंत में **सलीम** से **प्रेमकुमारी** की रक्षा अमीर करता है। एक साम्प्रदायिक मुसलमान से हिन्दू लड़की की रक्षा के लिए एक मुसलमान सामने आता है। अमीर **'सलीम की कलाई ककड़ी की तरह तोड़'** देता है। साम्प्रदायिक कट्टरता का जवाब आपसी भाईचारे और प्रेम से यहाँ दिया गया है।

'छोटा जादूगर' अपेक्षाकृत यथार्थवादी कहानी है, हालाँकि इसमें भी रोमानियत और संयोग तत्त्वों का समावेश किया गया है। **'छोटा जादूगर'** का पिता **'देश के लिए'** जेल में है। वह बीमार माँ के इलाज के लिए खेल दिखाकर रुपये जमा करता है, पर माँ को बचा नहीं पाता। उस बच्चे का प्रयास पाठक पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड़ता है। कथा का संघटन मज़बूत नहीं बन पाया है। इसमें **प्रेमचंद** की कहानी **'ईदगाह'** जैसी स्वाभाविकता नहीं आ पायी है। **प्रसाद** ने एक स्तर पर, बच्चों के द्वारा अर्थोपार्जन की विवशता का चित्रण इस कहानी में किया है। माँ-बाप के अभिभावकत्व से वंचित बच्चों की बाल-मज़दूरी के एक रूप को इस कहानी में देखा जा सकता है।

'इन्द्रजाल' कहानी-संग्रह की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध कहानी है–**'गुंडा'**। यह व्यक्तिगत शौर्य से संपन्न असफल प्रेम की सफल कहानी है। **प्रसाद** ने **'गुंडा'** में 18वीं शताब्दी (16 अगस्त 1781 ई० की चर्चा

कहानी में है) के बनारस को आधार बनाकर कथा का ताना-बाना बुना है। सामंतवाद और अंग्रेज़ों के बीच संघर्ष चल रहा था। सामंत कमज़ोर पड़ रहे थे और धीरे-धीरे अंग्रेज़ों का आधिपत्य बढ़ता जा रहा था। नन्हकू सिंह प्रेम में असफल होकर गुंडा बना था और अपनी जान हथेली पर लिए ज़रूरतमंदों को सहायता पहुँचाता रहता था, "उसे (हृदय को) न पूछो दुलारी ! हृदय को बेकार ही समझकर तो उसे हाथ में लिए फिर रहा हूँ। कोई कुछ कर देता-कुचलता-चीरता-उछालता! मर जाने के लिए सब कुछ तो करता हूँ, पर मरने नहीं पाता।"[7]

नन्हकू सिंह ने पचास वर्ष से ऊपर की उम्र में अपनी युवावस्था की प्रेमिका पन्ना और उसके बेटे चेतसिंह की रक्षा के लिए जान की बाज़ी लड़ा दी। पन्ना असवर्ण थी। महाराजा बलवंत सिंह ने जबरन उससे विवाह किया, पर असवर्ण होने के कारण पन्ना को पूरा सम्मान प्राप्त नहीं हो पाया। बलवंत सिंह ने पन्ना के हृदय और उसके सामाजिक जीवन-दोनों पर अत्याचार किया था। पन्ना और नन्हकू जीवन भर दुखी रहे। **'गुंडा'** कहानी शुरू से अंत तक ट्रेजेडी है। प्रेम में बलिदान तो हिन्दी की दूसरी कहानियों में भी है, पर असफल प्रेम की इतनी बड़ी ट्रेजेडी हिन्दी की गिनी-चुनी कहानियों में है। **'गुंडा'** को बीसवीं शताब्दी की दस श्रेष्ठ हिन्दी कहानियों मे स्थान मिला है। (स्रोत : वर्तमान साहित्य, कथा साहित्य विशेषांक, जनवरी-फरवरी-2000)

'इन्द्रजाल' की विवेचित कहानियों में रोमानियत के भीतर काम करने वाली मुक्ति की चेतना को देखने की जरूरत है। यथार्थ के प्रति रोमानी दृष्टि रखने का अर्थ यह नहीं है कि उस रचना को यथार्थ की समझ नहीं है। यथार्थ के विवेचन-विश्लेषण के लिए रोमानी तरीका भी अपनाया जा सकता है। **'इन्द्रजाल'** में 1936 की यथार्थ चेतना और मुक्ति की आकांक्षा इतिहास और कल्पना के संयोग के साथ व्यक्त हुई है।

श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने **'आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व का युग'** शीर्षक लेख में **'झोपड़ी का रुदन'** (फरवरी, 1936 ई०) कहानी-संग्रह का जिक्र किया है। इसके संपादक **रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी** थे। इसमें छः कहानियाँ संगृहीत थीं-

1. सवा सेर गेहूँ–प्रेमचंद 2. गरीबों का स्वर्ग–श्रीनाथ सिंह 3. नरमेध–मोहनलाल महतो वियोगी 4. शीर्षकहीन कहानी–श्रीराम शर्मा 5. कुछ नहीं, कुछ नहीं–अख्तर हुसैन रायपुरी 6. कहीं धूप कहीं छाया–बेनीपुरी।

इस कहानी-संग्रह का उस दौर में काफी स्वागत हुआ था। प्रगतिशील दृष्टिकोण वाली इन कहानियों को संगृहीत करके मानो यथार्थवाद का संदेश दिया गया था। **श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह** की टिप्पणी है, "इस संकलन में यथार्थ के प्रति या सेक्स के प्रति कोई अतियथार्थवादी या प्रकृतवादी नजरिया न था।"[8]

1936 ई० में **प्रेमचंद** की केवल तीन कहानियाँ छपीं–1. क़फ़न 2. दो बहनें 3. रहस्य। **'दो बहनें'** और **'रहस्य'** अत्यंत साधारण किस्म की कहानियाँ हैं। इनके बारे में कहने लायक कुछ नहीं है। **'क़फ़न'** की चर्चा बहुत जरूरी है। दलितों से जुड़ी इस कहानी को दलित-आंदोलन ने अस्वीकृत किया है। उसका कहना है कि इस कहानी में दलितों का मज़ाक उड़ाया गया है और उन्हें अत्यंत हीन दृष्टि से देखा गया है।

ग़रीबी और भूख ने घीसू और माधव को अमानवीय बना दिया है। उनके क्रिया-कलापों पर दलित-आंदोलन अप्रामाणिकता का चाहे जो भी आरोप लगा ले, पर इतना तो मानना पड़ेगा कि क़फ़न में **प्रेमचंद** का यथार्थवाद अपने चरम पर पहुँचा हुआ है। तमाम व्यवस्थाओं से ना-उम्मीदी की कहानी है–**क़फ़न**। कोई भी आदर्श, कोई

भी आशा इस कहानी में टिक नहीं पाई है। गरीबी और भूख इंसान को मानवीय नहीं रहने देतीं-'क़फ़न' के केन्द्र में यही सूत्र है। अधिकांश दलित कहानियों में 'अस्पृश्यता' उसके केन्द्र में होती हैं, परंतु 'क़फ़न' में 'अस्पृश्यता' की समस्या कहीं है ही नहीं। ग़रीबी और भूख की अंतिम सीमा को दिखाने के लिए समाज के सबसे ग़रीब और भूखे समाज को प्रेमचंद सामने रखना चाहते थे। इसके लिए उन्हें दलित समाज ही मिल पाया, क्योंकि वही इस समाज का ग़रीब और भूखा वर्ग है। घीसू और माधव ग़रीब और भूखे हैं, वे दलित भी हैं। किंतु 'क़फ़न' की समस्या का जुड़ाव उनके दलित होने से नहीं, बल्कि उनके ग़रीब और भूखे होने से है। अत: घीसू-माधव की अमानवीय स्थिति का जुड़ाव दलित-जीवन से नहीं, गरीबी और भूख से है।

जैनेन्द्र कुमार की प्रसिद्ध कहानी **'पत्नी'** 1936 ई० में प्रकाशित हुई। परंपरागत मध्यमवर्गीय परिवार में स्त्री की स्थिति को सुनंदा के माध्यम से व्यक्त किया गया है। सुनंदा पूरे मनोयोग से अपने पति कालिंदीचरण की सुविधाओं का ख़्याल रखती है, पर बदले में चाहती है कि कालिंदी भी उसके बारे में कम-से-कम पूछ लिया करें। हालाँकि अपने को ज़रा भी महत्त्वपूर्ण बनाने की इच्छा आते ही सुनंदा खुद को स्वार्थी समझकर धिक्कारने भी लगती है। अपने व्यक्तित्व की चिंता सुनंदा के मानस में बहुत भीतर दबकर रह गयी है। पति की सेवा में चिंतित सनंदा पूरी तरह अंतर्मुखी और दुखी दिखाई पड़ती है। जैनेन्द्र का आत्मोत्पीड़न यहाँ भी है। मध्यमवर्गीय परिवारों की स्थितियों को देखते हुए यह कहानी बहुत स्वाभाविक जान पड़ती है।

1936 की साहित्यिक पत्रिकाओं में बड़ी संख्या में कहानियाँ छप रही थीं। इनके कहानीकार ऐसे भी हैं, जो ज़्यादा प्रसिद्ध नहीं हो सके। ऐसी कहानियों में भी उस युग की परिवर्तनकामी चेतना की झलक देखी जा सकती है। प्रगतिशीलता, स्वतंत्रता आंदोलन, नारीवाद, दलित-चेतना, संसार के प्रति यथार्थ दृष्टि और संसार से लगाव, साम्प्रदायिक एकता, कला आदि के प्रति जागरूकता उस युग की आवश्यकता और विशेषता थी।

इस वर्ष की हिन्दी कहानियों में उपर्युक्त भूमि का विस्तार दिखाई पड़ता है। **प्रेमचंद, अज्ञेय, जैनेन्द्र कुमार**-जैसे बड़े कहानीकार इस दौर में सक्रिय थे, जिनका विश्लेषण हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने लंबे समय तक किया है। इस वर्ष की पत्रिकाएँ कुछ दूसरी सच्चाइयों को भी उद्घाटित करती हैं, जिन पर इतिहासकार का ध्यान नहीं जाता, क्योंकि उसे तो पूरी परंपरा और ऐतिहासिक निरंतरता के लंबे रास्ते को ध्यान में रखना होता है। केवल 1936 ई० में प्रकाशित कहानियों को ध्यान में रखकर कोई विश्लेषण अब तक नहीं हुआ है। हिन्दी कहानी की विकास परम्परा में 1936 ई० का अपना कोई अलग महत्त्व आज तक रेखांकित किया भी नहीं जा सका है। कविता के क्षेत्र में हिन्दी मनीषा छायावाद के चरम पर पहुँचकर यथार्थवाद की तरफ मुड़ गयी थी। इस प्रवृत्ति का हिन्दी की कहानियों पर कोई असर था या नहीं?

छायावाद और प्रगतिवाद के आलोक में 1936 ई० की कहानियों को देखते हुए **प्रेमचंद** की परंपरा को ध्यान में रखना होगा। **प्रेमचंद** की कहानियों के विकास और निर्माण में न तो छायावाद का योगदान है और न ही प्रगतिवाद का प्रभाव। **प्रेमचंद** छायावादी नहीं हैं और प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के होते हुए भी, उल्लेखनीय है, कि **'प्रगतिशील लेखक संघ'** की स्थापना के करीब छ: महीने बाद ही **प्रेमचंद** की मृत्यु हो गयी थी। अत: प्रगतिवाद का असर **प्रेमचंद** पर नहीं देखा जा सकता, बल्कि **प्रेमचंद** की रचनात्मक उर्जा का उपयोग प्रगतिवादी आंदोलन

में खूब हुआ। इस वर्ष श्रीमती **उषादेवी मित्रा** की कहानियाँ ध्यान खींच लेती हैं। इस वर्ष उनकी प्रकाशित कहानियों की संख्या भी दूसरे कहानीकारों की तुलना में ज़्यादा है। इनकी कहानियों में औरत की ज़िन्दगी को मनोवैज्ञानिक समझ के साथ पेश किया गया है। समाज और परिवार में औरत की जटिलतर स्थिति को बारीकी से समझने की क्षमता लेखिका में है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों और आलोचकों ने **श्रीमती मित्रा** को केवल सूचिबद्ध कर दिया है और चलती-फिरती टिप्पणियाँ कर दी हैं। उनकी कहानियों का गम्भीर विश्लेषण कहीं दिखाई नहीं पड़ता। '**प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य**' नामक पुस्तक में डॉ० **रेखा अवस्थी** ने लिखा है, **"हिन्दी कहानी लेखिकाओं में प्राय: सभी ने घरेलू जीवन का क्षेत्र अपनाया है, यद्यपि कुछ ने कौतूहलोत्पादक या रूमानी वातावरण की सृष्टि को ही मुख्य स्थान दिया है, यथा: उषादेवी मित्रा (1897-1966)। इस क्षेत्र में कोई एक लेखिका इतनी विशिष्ट नहीं है कि उसे अकेले उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सके।"**[9]

डॉ० **गोपाल राय** की भी मान्यता कुछ ऐसी ही है, **"उषा देवी मित्रा की भावुकता-भरी कल्पनामयी सामाजिक कहानियाँ भी 1933 ई० के आसपास तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं।"**[10]

इस तरह की टिप्पणियों के अलावा इतिहास-पुस्तकों में उषादेवी मित्रा की कहानियों और कहानी-संग्रहों के नाम गिना दिए गए हैं। इतिहास-पुस्तकों में प्राय: उपादेवी मित्रा के संपूर्ण कहानी-लेखन को ध्यान में रखकर टिप्पणी की गई है। केवल 1936 ई० के संदर्भ में उषादेवी मित्रा का मूल्यांकन दूसरे ढंग से करने की ज़रूरत है। इस वर्ष स्त्री के जीवन से संबंधित इतनी अच्छी कहानियाँ और किसी ने नहीं लिखीं। औरत की भावुक छवि मित्रा की कहानियों में भी है, किंतु पुरुषवादी समाज की स्त्रीविरोधी प्रवृत्ति को बार-बार रेखांकित किया गया है। तत्कालीन परिस्थितियों में स्त्री की क्रियाशीलता, खुले समाज की बजाय, परिवार में ज़्यादा थी। अत: उनकी अधिकांश समस्याएँ परिवार के बीच की हैं, यद्यपि खुले समाज का दबाव भी अप्रत्यक्ष रूप से बना हुआ दिखाई पड़ता है। उषादेवी मित्रा ने प्राय: पति-पत्नी के संबंध, विधवा-जीवन, विधवा-विवाह, पुनर्विवाह में बच्चे की स्थिति, पति की उपेक्षा, प्रेमी और पिता के प्रति विरोधी कर्त्तव्य में संतुलन बनाती हुई औरत की अपनी स्थिति, बेमेल विवाह आदि को ध्यान में रखकर ये कहानियाँ लिखी हैं। '**कहाँ करें अनुयोग?**' (विश्वमित्र:जुलाई, 1936)शीर्षक कहानी में विधवा-विवाह का समर्थन हैं, किंतु यहाँ सैद्धान्तिक समर्थन भर नहीं है कि जिससे बुद्धिजीविता और प्रगतिशीलता का कोरा परिचय मिलता हो। लेखिका ने बाल-बच्चेदार विधवा देवयानी के पुनर्विवाह के बाद बच्चे मुकुन्द के मनोविज्ञान को भी रेखांकित किया है। बच्चा अपने नए पिता तिमिर के साथ तालमेल बैठाने में कठिनाई महसूस कर रहा है और इस बात से देवयानी परेशान है। लेखिका किसी निष्कर्ष पर कहानी को नहीं पहुँचाती है। इस कहानी को पढ़ते हुए मन्नू भंडारी के उपन्यास 'आपका बंटी' का ख़्याल हो आता है, जिसमें स्त्री के स्त्रीत्व और मातृत्व के बीच बच्चे की परेशानियों को दिखाया गया है। उषादेवी मित्रा ने विधवा के पुनर्विवाह का समर्थन किया है, किंतु बच्चे की विडम्बनात्मक स्थिति पर ज़्यादा ज़ोर दिया है।

'**चलचित्र**' (माधुरी, जनवरी 1936) नामक कहानी में रंभा बेमेल विवाह के कारण चार महीने में ही विधवा हो जाती है और एक अस्पताल में नर्स की नौकरी करने लगती है। पुरुष के बिना स्त्री का जीवन संभव है, अगर वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र है; मगर ऐसे जीवन की परेशानियाँ भी हैं। लेखिका ने विधवा रंभा को

कर्त्तव्यनिष्ठ नर्स के रूप में पेश किया है। उसकी सेवा-शुश्रूषा से प्रभावित होकर मरीज बनवारी विवाह का प्रस्ताव रखता है। परंतु यह जानकर कि रंभा विधवा है, बनवारी पीछे हट जाता है। बनवारी की पुरुषवादी मानसिकता रंभा की सेवा-शुश्रूषा की जगह उसकी यौन-शुचिता को प्राथमिकता देती है। पुरुष-मन की इस गाँठ को उषादेवी मित्रा ने बखूबी पकड़ा है। कहानी के अंत में रंभा को प्रेमी अपरेश बीमार और मरणोन्मुख स्थिति में मिलता है। दोनों की यादें ताजा हो जाती हैं। लेखिका ने इस प्रसंग को अत्यंत परिपक्व ढंग से सामने रखा है–

"मेरे मरने के पीछे कभी मुझे याद कर लोगी रंभा?"-अपरेश ने रंभा से पूछा। "इन शब्दों ने रंभा के अंतर को हिला दिया। चलचित्र के चित्र के समान कई चित्र उसकी दृष्टि के सामने से निकल गए। हाँ वे यही शब्द थे, इन शब्दों को उसने और भी कभी सुना था, उन शब्दों की मौत ही कहाँ थी, जिन शब्दों को मरते हुए पति ने उसके कानों में मंत्र की तरह फूँक दिया था?"[11]

रंभा का प्रेमी अपरेश मरणोपरांत प्रेम को जीवित रखने का रोमानी ख़याल रखता है, यही बात मरते समय रंभा के बेमेल बूढ़े पति ने भी कही थी। रंभा इन दोनों पुरुषों की बातों से भावुक हुई। असफल प्रेम, बेमेल विवाह और विधवा जीवन की रोमांचक त्रासदी इस कहानी में दिखाई पड़ती है। अपरेश के मरने के बाद–"**रंभा की आँखों में आँसू की बूँदें टपक पड़ीं–कौन जाने अतीत के लिए या वर्तमान के लिए।**"[12] 'अतीत' और 'वर्तमान' दोनों पर लेखिका की दृष्टि पूरी सफलता के साथ काम कर रही है। बेमेल विवाह के बाद औरत के जीवन में उत्पन्न विसंगतियों को कई आयामों से देखने की यहाँ कोशिश की गई है। लेखिका औरत के लिए केवल खाना, कपड़ा, घर और पुरुष के द्वारा दी गई सुरक्षा के लिए संघर्षशील नहीं हैं। वे चाहती हैं कि औरत का समाज में अपना वजूद हो। स्त्री-पुरुष के बीच बराबरी का और प्रेम का संबंध हो। भावनात्मक संबंध बने, किंतु भावनाओं का इस्तेमाल करके स्त्री-जीवन को दुखद न बनाया जाए।

'उन्नीस सौ पैंतीस' (विश्वमित्र, अप्रैल 1936) शीर्षक कहानी में श्रीमती मित्रा ने दिखाया है कि पुरुष में संन्यास का भाव, स्त्री की उपेक्षा करता है। स्त्री से दूर रहकर उसे समझा नहीं जा संकता। उसके सौंदर्य और महत्त्व को उसके पास रहकर ही अनुभूत किया जा सकता है। पुरुषवादी समाज में विलासी और संन्यासी पुरुषों के केन्द्र में स्त्री होती है। विलासी पुरुष नारकीय ढंग से स्त्री के समीप होता है और संन्यासी पुरुष अप्राकृतिक ढंग से स्त्री से दूर होता है। दोनों की दृष्टि असंतुलित है, दोनों स्त्री के साथ अन्याय करते हैं। सविता के पति उग्रसेन ने विवाह होते ही संन्यास ग्रहण कर लिया। पूरे एक साल तक सविता अकेली परेशान रही। इधर-उधर भटकने पर संन्यासी उग्रसेन मिला, बेहोश सविता का उसने उपचार किया। इस क्रम में उग्रसेन के भीतर संन्यास और गृहस्थ जीवन को लेकर मानसिक द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। अंततः आत्महत्या की ओर उन्मुख सविता की रक्षा उग्रसेन ने की और उसके सहज जीवन की शुरुआत हुई।

'फागुन बीतो जाय फूल कुम्हलाये' (विश्वमित्र, जून 1936) एक सशक्त कहानी है। उषादेवी मित्रा ने पुरुष के संन्यास को यहाँ भी आधार बनाया है। प्रशांत ने संन्यास के नाम पर अपनी पत्नी षोडशी और घर की आर्थिक व्यवस्था की उपेक्षा की। प्रौढ़ावस्था में धन के प्रति प्रशांत का आकर्षण जागा। पर सारी पैतृक संपत्ति षोडशी के नाम कर दी गयी थी, क्योंकि प्रशांत ग़ैर-जिम्मेदार था। आर्थिक रूप से मज़बूत षोडशी का व्यक्तित्व

इस कहानी में चमक उठा है। उसने पुरुषवादी एकांगी दृष्टिकोण को करारा जवाब दिया है। औरत के स्वाभिमान से जुड़ी यह सुखांत कहानी है। शिल्प की दृष्टि से भी यह कहानी सशक्त है। हिन्दी कहानी की विकास-यात्रा में यह कहानी महिला कहानीकार द्वारा लिखी गई, अधिकारपूर्ण दृष्टिवाली होने के कारण, महत्त्वपूर्ण है।

प्रेम या पशु-वृत्ति?' (मराठी कहानी, हंस, फरवरी 1936) में श्रीमती **विभावरी शिरूरकर** ने विवाह-व्यवस्था पर पुरुषवादी-वर्चस्व का अच्छा विश्लेषण किया है। ऐसे स्त्री-पुरुष हैं जो विचारवान् हैं और स्त्री के अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। लेखिका ने यह भी दिखाया है कि विवाह-व्यवस्था की अपनी सार्थकता भी है। आपसी प्रेम के आधार पर इस व्यवस्था को सुखद बनाया जा सकता है। **इन्दु** को प्रभाकर के लंबे संसर्ग के बाद बोध होता है कि स्त्री-पुरुष के संबंध केवल दास-स्वामी के संबंध नहीं होते, उनमें प्रेम भी हो सकता है।

'सुहिणी मेहार' (गुजराती कहानी, हंस, मार्च 1936) में झवेर चंद मेघाणी ने हिन्दू लड़की **'सुहिणी'** और मुसलमान युवक **'मेहार'** के बीच के रोमानी प्रेम को दिखाया है। प्रेम में रोमानियत होने के बावजूद समाज की रूढ़ियों और दबावों का अच्छा विश्लेषण किया गया है। साम्प्रदायिक समस्याओं के माहौल में ऐसी कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं, जहाँ हिन्दू लड़की और मुसलमान लड़का अपने प्रेम के लिए जान दे देते हैं।

'स्वप्न' (विशाल भारत, जून, 1936) शीर्षक कहानी में श्रीमती **कमलादेवी चौधरी** ने पुरुष के संन्यास की पड़ताल की है। लेखिका ने दिखाना चाहा है कि प्रवृत्तियों के दमन से नहीं, बल्कि उनके उन्नयन से मनुष्य सुखी और स्वाभाविक रह सकता है। पत्नी की मृत्यु के बाद बैरिस्टर ने वैराग्य स्वीकार कर लिया, किंतु प्रौढ़ावस्था में भी मित्र की बेटी के प्रति वह अपने को नियंत्रित नहीं रख सका। उसका वैराग्य वस्तुतः स्त्री से दूर रहकर कायम रह सका था। उसने अपनी प्रवृत्तियों का परिष्कार नहीं किया था, बल्कि विभिन्न भौतिक उपायों से दबा रखा था।

1936 ई० की अनेक हिंदी कहानियों में वैराग्य और संन्यास के खोखलेपन को दिखाया गया है। वैराग्य और संन्यास में औरत की उपेक्षा छिपी होती है, जो स्त्री-पुरुष के स्वस्थ संबंध को दूषित करती है। हिंदी साहित्य यथार्थ की तरफ, प्रत्येक क्षेत्र में, मुड़ता हुआ दिखाई पड़ रहा था।

'कलाकार' (विश्वमित्र, सितम्बर 1936) श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की **'मैं'** शैली में लिखी गयी संस्मरणात्मक कहानी है। ग़रीबी के कारण आर्ट और संगीत के दो होनहार बाल कलाकार क्रमशः जेल और जंगल में अपना समय बर्बाद करने को मज़बूर हैं। कला का विकास रुपयों पर अवलंबित हो गया है–

"कला और कलाकार की जब-जब चर्चा सुनता हूँ, दोनों बच्चे आँखों के निकट घूमने लगते हैं।

"एक जेल की हवा खा रहा था–दूसरा लकड़ियाँ तोड़ रहा था। हमारे रवि वर्मा, हमारे तानसेन-जेलों में सड़ते हैं, ईंधन के गट्ठर ढोते हैं।

"और, उसी समय अपने दो मित्र-तनयों की याद आती हैं। एक 75/- महीने खर्च करके शांति-निकेतन में लकीरें खींचा करते हैं, दूसरे इससे भी सवाया सर्फ कर गन्धर्व-विद्यालय में रागों की टाँग तोड़ते हैं। एक के चलते, रंगीन रोशनाई और आर्ट पेपर की बेतरह बरबादी होती है; दूसरे, पड़ोसियों का सुबह का सोना हराम करते हैं।"[13]

यह कहानी गुलाम भारत की है, जहाँ कला के उन्मुक्त विकास की संभावना ख़त्म हो गयी है और सच्चा कलाकार असुविधाओं में जी रहा हैं आज़ाद भारत में भी रेणु की **'रसप्रिया'** जैसी कहानी लिखी गई है, जहाँ लोक कलाकार के उपेक्षित जीवन को दर्शाया गया है।

चंद्रगुप्त विद्यालंकार की कहानी **'हूक'** (विशाल भारत, जून, 1936) यद्यपि साधारण प्रेम कहानी है, किंतु राष्ट्रीय आंदोलन और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार की चर्चा होने के कारण यह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

श्री पहाड़ी की कहानी **'चिट्ठी आयी थी'** (माधुरी, जनवरी 1936) में शहीद बेटों की बूढ़ी माँ की पीड़ा दो तरह से दिखायी गयी है। एक बेटा अंग्रेज़ों की फ़ौज में काम करता हुआ मारा जाता है, दूसरा बेटा अंग्रेज़ों के ख़िलाफ काम करता हुआ मारा जाता है। शहीद फौजी बेटे के नाम पर मिलने वाली सरकारी सहायता को बूढ़ी माँ, अपने सुराजी बेटे के कहने पर, लेने से पहले ही इंकार कर चुकी है। इस तरह, दोनों बेटे दो छोरों पर लड़ते हुए मारे जाते हैं। पर, माँ के लिए दोनों की मृत्यु दर्दनाक है।

उर्दू कहानीकार श्री मुहम्मद मुजीब की कहानी **'नया मकान'** (हंस, जनवरी 1936) में उच्चकोटि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दिखाई पड़ता है। अयूब खाँ ताल्लुकेदार (प्रौढ़ उम्र के) को जवान मजदूरनी पसंद आ जाती है। उससे शादी के ख़याल को वह मन में घुमाता-फिराता रहता है। उसकी मानसिक स्थिति और हरकतों को लेखक ने बहुत अच्छी तरह चित्रित किया है–

"घर पहुँचते-पहुँचते अयूब खाँ को बिल्कुल यक़ीन हो गया था कि वह आशिक़ नहीं हुआ है, मगर फिर यह घबराहट कैसी? यह लाचारी क्यों?

"घर पहुँचते ही अयूब खाँ ने दो रकअत नमाज़ पढ़ी। खुदा की याद में वह कभी इतना न डूबा था, जितना इस नमाज़ में और यह अजीब बात थी कि हरदम उस नौजवान मज़दूरनी की शोख आँखें उसे तकती रहीं, उसका दिल धड़कता रहा, तबीयत कुछ परेशान रही; लेकिन इबादत में कोई फ़र्क न आया, खुदा ख़फा न हुआ, वज़ीफ़े के बीच-बीच में वह खुशी की आहें भरता जाता था, उसकी आँखों में आँसू आ रहे थे, उस मरीज की तरह जो किसी लम्बी बीमारी से अच्छा होकर अपनी आफ़ियत की खुशी मना रहा हो।"[14]

1936 ई० की मुख्य हिन्दी पत्रिकाओं में छपी कहानियों के विश्लेषण से पता चलता है कि समाज के विभिन्न पहलुओं को ये कहानियाँ उजागर करती हैं। विवेच्य वर्ष से पहले ही **प्रेमचंद, प्रसाद, जैनेन्द्र** आदि की महत्त्वपूर्ण कहानियाँ छप चुकी थीं, जो हिन्दी कहानी के विकास में मील के पत्थर हैं। इस वर्ष की कहानियों में **'कफ़न'** को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इन स्थापित और प्रचलित निष्कर्षों पर विवाद की गुंजाइश प्रायः नहीं बनती है। पर एक नई बात अवश्य देखी जा सकती है कि हिंदी कहानी के इतिहास में श्रीमती **उषादेवी मित्रा** को जो स्थान मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला है। महिला होने कारण भी उन्हें अलग से रेखांकित करने की ज़रूरत है। उनसे पहले **'दुलाईवाली'** (1907) की लेखिका बंगमहिला **राजेंद्रबाला घोष** की चर्चा की जा सकती है। अन्यथा, 1936 ई० तक उषादेवी मित्रा की कोटि की कोई महिला कहानीकार नहीं हुई। उषादेवी की कुछ कहानियाँ निश्चय ही स्त्री-जीवन की विवशताओं को पुरुषवादी समाज में दिखाने में सक्षम हैं। स्त्री की स्वतंत्रता

को केवल वस्तुवादी तरीके से देखने की बजाय, समाज के मौजूद ढाँचे के भीतर रखकर देखने-परखने का प्रयास उन्होंने किया है। औरत के लिए हवाई आज़ादी की माँग उषादेवी मित्रा की कहानियों में कहीं नही दिखाई पड़ती है, पर पुरुषवादी वर्चस्व के सामने घुटने टेकने की मानसिकता भी उनके यहाँ नहीं है।

स्वतंत्रता आंदोलन की अनुगूँज 1936 ई० की कहानियों में बार-बार दिखाई पड़ती है। गुजराती कहानीकार श्री धनसुखलाल मेहता की कहानी 'ट्रेन' (विशाल भारत, फरवरी 1936) में गाँधीवाद की सतही आलोचना करने वालों की असलियत को दिखाया गया है। उनके विचार से स्वतंत्रता-आंदोलन को नेतृत्व प्रदान करने में गाँधीवाद सक्षम है।

'हंस', 'विशाल भारत' आदि पत्रिकाओं में अनूदित कहानियाँ बड़ी संख्या में छप रही थीं। दूसरी भारतीय भाषाओं के प्रति हिन्दी पत्रिकाओं और हिन्दी जनता की जागरूकता का पता इन अनूदित कहानियों की बड़ी संख्या से चलता है। बँगला, गुजराती, तेलुगु, कन्नड़, तमिल, मलयालम, आसामी, गुजराती उर्दू, पंजाबी आदि भारतीय भाषाओं की अनूदित कहानियाँ भारतीय साहित्य की अवधारणा को जन्म दे रही थीं। प्रगतिशील आंदोलन ने जो अखिल भारतीय स्वरूप धारण किया था, उसे बनाने में इन अनूदित कहानियों की भूमिका को समझा जा सकता है। 1936 की कहानियाँ बता रही थीं कि आने वाले समय में हिन्दी साहित्य को भारतीय साहित्य बनना है, भारत की दूसरी भाषाओं के साहित्य को जानना-सीखना है और हिन्दी के भावबोध को इतना व्यापक बनाना है कि वह पूरे भारत की संवेदना का प्रतिनिधित्व कर सके।

जयशंकर प्रसाद 1933 तक अपने सभी नाटक लिख चुके थे। उनके असर से हिन्दी नाटक और रंगमंच की दूरी क्रमशः बढ़ती गयी। प्रसाद के बाद सेठ गोविन्ददास और लक्ष्मीनारायण मिश्र-जैसे नाटककारों ने इस दूरी की ओर भी बढ़ाया। भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचंद्र माथुर, रामकुमार वर्मा आदि ने नाटक को एक बार फिर रंगमंच से जोड़ने का प्रयास किया। इन सभी नाटककारों के एकांकी 1936 में प्रकाशित हुए।

भुवनेश्वर प्रसाद के एकांकी-संग्रह 'कारवाँ' (1936) में छः एकांकी संगृहीत थे-

1. श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना (हंस, दिसम्बर 1933)
2. प्रतिभा का विवाह – 1933
3. शैतान – 1934
4. एक साम्यहीन साम्यवादी – हंस, मार्च 1934
5. रोमांस-रोमांच – 1935
6. लाटरी – 1935

भुवनेश्वर ने अपने युग की यथार्थवादी चेतना को कहीं-कहीं अतिवादी रूप में अपनाया है। स्त्री-पुरुष के वैवाहिक संबंधों को वे सभी स्तरों पर संदेह की दृष्टि से देखते हैं। स्त्री और पुरुष के बीच की तमाम सामाजिक मर्यादाओं का उनके लिए कहीं-कहीं कोई महत्त्व नहीं है। यही कारण है कि वे प्रायः अपनी रचना-भूमि की सामाजिकता से अलग-थलग पड़ जाते हैं। उनकी रचनाशीलता पर सेक्स इतना हावी है कि वे कभी-कभी असंतुलित और नितांत व्यक्तिवादी सोच को व्यक्त कर जाते हैं, जो किसी भी तरह ग्राह्य नहीं मालूम पड़ता।

'श्यामा: एक वैवाहिक विडंबना' में मनोज मिस्टर पुरी से कहता है, "**मैं आपकी धर्मपत्नी से प्रेम करता हूँ।**"[15] वैवाहिक संबंध की निरर्थकता को प्रकट करते हुए मनोज पुन: कहता है, "**तुम, जिससे उसकी एक भावना भी नहीं मिलती। तुम, जो उसे एक निर्जीव लता के समान अपने अंग में लपेटे रहना चाहते हो। तुम, जो केवल अपनी शारीरिक वासनाओं को तृप्त करना चाहते हो। तुम उसे प्यार करते हो? तुम, जो अपने सर्वोत्तम रूप में भी उसके साधारण-से-साधारण त्याग से निकृष्ट हो।**"[16]

'**प्रतिभा का विवाह**' में मिस्टर वर्मा का कथन है, "**पुत्री के समान! पर मैं तो प्रतिभा से विवाह करना चाहता हूँ।**"[17]

स्त्री-पुरुष के संबंध को केवल सेक्स की दृष्टि से देखने के कारण विवाह-संस्था पर भुवनेश्वर के उठाए गए प्रश्न कमजोर पड़ जाते हैं। फिर भी, यह रेखांकित करने योग्य तो है ही कि भुवनेश्वर ने अपने एकांकियों में विवाह-संस्था में मौजूद स्त्री की विवशताओं को तीखे ढंग से उठाया।

इसी एकांकी में प्रतिभा कहती है, "मुझे अब प्रकृति के हृदयहीन सौन्दर्य में तनिक भी रस नहीं है। मानव प्रकृति कहीं अधिक सुन्दर है।"[18] मनुष्य के जीवन के प्रति लगाव को सबसे जरूरी समझने वाले भुवनेश्वर की विशेषता है कि अराजकता के बावजूद उनका स्वतंत्र चिंतन हमें प्रभावित करता है। उनकी रचनाओं में अपने युग की समस्याओं के प्रति जागरूकता है।

जगदीशचंद्र माथुर का पहला प्रसिद्ध एकांकी है-'**मेरी बाँसुरी**'। इसमें पाश्चात्य सभ्यता को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा गया है। पाश्चात्य जीवन-शैली की दौड़ में शामिल युवकों के छिछलेपन को यहाँ उकेरा गया है। '**मेरी बाँसुरी**' का कथ्य सामाजिकता से पूर्ण है। माथुर के काव्यात्मक दृष्टिकोण ने इस एकांकी को गहरे स्तर पर संवेदनशील और कवित्वपूर्ण बना दिया है। पाश्चात्य और भारतीय जीवन शैली की तुलना करने वाली अनेक रचनाएँ इस दौर में लिखी गयीं।

उपेन्द्रनाथ '**अश्क**' के एकांकी '**पापी**' और '**लक्ष्मी का स्वागत**' में पत्नी की मृत्यु के बाद का अवसाद चित्रित हुआ है। इनमें दर्द से भरा हुआ विद्रोह है। **रामकुमार वर्मा** के एकांकी '**पृथ्वीराज की आँखें**' में उनके अन्य एकांकियों की तरह ही इतिहास का काव्यात्मक इस्तेमाल किया गया है। इसमें भारत की स्वातंत्र्य चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। **उदयशंकर भट्ट** का एकांकी '**एक ही कब्र में**' गाँधीवाद से प्रभावित है। इसमें क्वेटा भूकंप की पृष्ठभूमि में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या का गाँधीवादी दृष्टि से चित्रण किया गया है। धार्मिक आख्यानों और ऐतिहासिक चरित्रों को आधार बनाकर राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति वाले नाटक क्रमश: '**मेघनाद**' (चतुरसेन शास्त्री) और '**भग्नावशेष**' (कुमार हृदय) लिखे गए।

इस तरह, 1936 के गद्य साहित्य में अपने युग को सशक्त अभिव्यक्ति मिली। प्रगतिशील चेतना को भरपूर समर्थन तथा प्रतिनिधित्व '36 की गद्य रचनाओं में मिला। उपन्यास, कहानी और नाटक के द्वारा गद्य लेखकों ने जनता की पीड़ाओं को यथार्थपरक तरीके से पेश किया। किसान, मज़दूर, बुद्धिजीवी, स्त्री, दलित, बाल-मज़दूर, प्रेम, स्वतंत्रता आंदोलन, मुक्ति की आकांक्षा आदि को इन गद्य रचनाओं ने जनवादी रुझान के साथ व्यक्त किया।

संदर्भ

1. प्रेमचंद – महाजनी सभ्यता, पृ० 1
2. डॉ० रामविलास शर्मा – प्रेमचंद और उनका युग, पृ० 97-98
3. प्रेमचंद – साहित्य का उद्देश्य, पृ० 15
4. प्रेमचंद – मंगलसूत्र, पृ० 331
5. वही, पृ०, 354
6. वही, पृ० 354-355
7. जयशंकर प्रसाद – प्रसाद वाङ्मय, खंड-4 सं० रत्नशंकर प्रसाद, पृ० 353
8. 'वर्तमान साहित्य' – कथासाहित्य विशेषांक, जनवरी-फरवरी, 2000, पृ० 91
9. डॉ० रेखा अवस्थी – प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य, पृ० 251
10. डॉ० गोपाल राय – हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० डॉ० नगेन्द्र, पृ० 585
11. 'माधुरी' मासिक – जनवरी 1936, पृ० 778
12. वही
13. 'विश्वमित्र' मासिक – सितम्बर 1936, पृ० 641
14. 'हंस' मासिक – जनवरी 1936, पृ० 35
15. भुवनेश्वर प्रसाद – कारवाँ तथा अन्य एकांकी, पृ० 27
16. वही, पृ० 28-29
17. वही, पृ० 78
18. वही, पृ० 76

अध्याय-चार

आ लो चे च त ना त्म ना क

अध्याय-चार

आलोचनात्मक चेतना

1936 की आलोचनात्मक चेतना को उस वर्ष की साहित्यिक बहसों के द्वारा जाना जा सकता है। साहित्यिक बहसों से मेरा तात्पर्य साहित्यिक क्षेत्र में चलेवाली बहसों से है, जिनका संबंध समाज, राजनीति, संस्कृति आदि के विभिन्न हिस्सों से है। अत: ये बहसें साहित्य की विचारधारा और चिंतन की प्रकृति को निर्धारित करने में सहायक हैं। इनसे तत्कालीन **'साहित्य का उद्देश्य'** हमें मालूम होता है। इनसे पता चलता है कि उस दौर में साहित्य की चिंताएँ कौन-सी थीं? लेखन के केन्द्र में कौन-सी समस्याएँ थीं? सबसे बड़ी बात कि उस अवधि के साहित्य के स्वभाव की पहचान में इन बहसों से सहायता प्राप्त की जा सकती है।

1936 का दौर जनवादी और यथार्थवादी है। अत: समाज, राजनीति, संस्कृति आदि के प्रति साहित्यकारों का दृष्टिकोण व्यापक जन-समुदाय की तरफ से निर्धारित हो रहा था। छायावाद की कमज़ोरियाँ धीरे-धीरे छूट रही थीं और यथार्थवादी वस्तु तथा भाषा का महत्त्व रचनाशीलता में बढ़ रहा था। सोवियत रूस की समाजवादी व्यवस्था के उत्तरोत्तर विकसित होने तथा वहाँ के जनसाधारण की स्थिति में व्यापक सुधार होने के कारण, पूरी दुनिया में समाजवाद की धूम मच गयी थी। सुखद और सुंदर समाज की रचना के लिए एकमात्र विकल्प के रूप में समाजवाद को देखा जा रहा था। यही कारण है कि उस दौर की बहसों पर समाजवाद का असर अनेक रूपों में दिखाई पड़ता है।

डॉ० अम्बेडकर के नेतृत्व में दलित-आंदोलन राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का हिस्सा बन चुका था। **गाँधीजी** और काँग्रेस के द्वारा भी दलित मुद्दे को गंभीरतापूर्वक स्वीकार किया जा रहा था। तत्कालीन साहित्यिक पत्रिकाओं तथा रचनाओं में दलित जीवन की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दिखाई पड़ती है। **सद्गति** (1931), **ठाकुर का कुआँ** (1932), **कफन** (1936) आदि कहानियों में **प्रेमचंद** ने दलित-जीवन को केन्द्र बनाया। दलितों के सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों से संबंधित लेख '36 की पत्रिकाओं में मिलते हैं।

स्त्री-आंदोलन के क्षेत्र में **महादेवी वर्मा** की **'शृंखला की कड़ियाँ'** (1942) एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। स्त्रियों के बारे में पर्याप्त जागरूकता '36 की पत्रिकाओं में दिखाई पड़ती है।

साहित्यिक चिंताओं से संबंधित आलोचनात्मक लेख बड़ी संख्या में छप रहे थे।

विचारधारा पर अगर हम अपना ध्यान केंद्रित करें, तो 1936 की पत्रिकाओं में मार्क्सवाद पर सबसे ज़्यादा बहस मिलती है। यह इस बात का प्रमाण है कि विचार और व्यवस्था की दुनिया में, सोवियत रूस अपनी जनवादी

प्रकृति के कारण, सर्वाधिक स्वीकृत हो रहा था। औपनिवेशिक गुलामी से त्रस्त देशों के गरीब लोगों को समाजवादी व्यवस्था में ही अपना हित नज़र आ रहा था। दूसरी तरफ भारत की राजनीति पर गाँधीवाद का गहरा रंग चढ़ा था। अतः गाँधीवाद और मार्क्सवाद को लेकर लंबी बहसें '36 की पत्रिकाओं में मिलती हैं।

गाँधीवाद और मार्क्सवाद से संबंधित बहस को यहाँ रखने से पहले मैं **प्रेमचंद** के अंतिम महत्त्वपूर्ण लेख **'महाजनी सभ्यता'** का जिक्र करना चाहूँगा। यह कई कारणों से अंतिम महत्त्वपूर्ण लेख हैं। **प्रेमचंद** के जीवनकाल में 'हंस' का अंतिम अंक सितम्बर 1936 में निकला। यह लेख उसी अंक में छपा था। **'महाजनी तहजीब'** शीर्षक से उर्दू की मासिक पत्रिका **'कलीम'**, अगस्त 1936 में यह पहले प्रकाशित हो चुका था।

'महाजनी सभ्यता' समाजवाद और पूँजीवाद से संबंधित लेख है, इसमें शोषितों की पीड़ा है और शोषकों की अमानवीयता का परिचय है। इस लेख में उम्मीद जताई गयी है कि जल्दी ही पूरी दुनिया में समाजवादी व्यवस्था आ जाएगी। **प्रेमचंद** अपने उपन्यासों, कहानियों या अन्य रचनाओं में किसान-मज़दूर की बात करने के बावजूद मार्क्सवाद या समाजवादी व्यवस्था के समर्थक के रूप में सामने नहीं आते। अपने जीवन के अंतिम दिनों में **प्रेमचंद** स्पष्ट तौर पर समाजवादी सोवियत रूस की व्यवस्था को पूरी दुनिया के लिए कल्याणकारी बताते हैं। दुनिया से शोषण को समाप्त करने का एकमात्र उपाय वे इस नई व्यवस्था में देखते हैं, **"परंतु अब एक नई सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चित में उदय हो रहा है, जिसने इस नाटकीय महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है। जिसका मूल सिद्धांत यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने शरीर या दिमाग से मेहनत करके कुछ पैदा कर सकता है, राज्य और समाज का परम सम्मानित सदस्य हो सकता है, और जो केवल दूसरों की मेहनत या बाप-दादों के जोड़े हुए धन पर रईस बना फिरता है, वह पतितम प्राणी है। उसे राज्य-प्रबंध में राय देने का हक नहीं और वह नागरिकता के अधिकारों का पात्र नहीं।.....निस्संदेह इस नई सभ्यता ने व्यक्ति-स्वातंत्रय के पंजे, नाखून और दाँत तोड़ दिए हैं। उसके राज्य में अब पूँजीपति लाखों मज़दूरों का खून पीता रहकर मोटा नहीं हो सकता। उसे अब यह आज़ादी नहीं कि अपने नफे के लिए साधारण आवश्यकता की वस्तुओं के दाम चढ़ा सके, अपने सड़े-गले माल की खपत कराने के लिए युद्ध कर दे, गोला-बारूद और युद्ध-सामग्री बनाकर दुर्बल राष्ट्रों का दलन कराए।"**[1]

प्रेमचंद ने यहाँ समाजवाद और पूँजीवाद की विशेषताओं को आमने-सामने रख दिया है और स्पष्ट तौर पर समाजवाद का पक्ष लिया है। पूरे लेख में सोवियत रूस की समाजवादी व्यवस्था की अनेक विशेषताओं को बताया गया है, जैसे वह **'मालदारी और व्यक्तिगत संपत्ति का अंत कर रही है'**। यह व्यवस्था धर्मनिरपेक्ष है, धर्मविरुद्ध नहीं **'इस सभ्यता में धर्माचरण की जो स्वाधीनता है, और किसी देश को उसके दर्शन भी नहीं हो सकते।'** इसके विपरीत, पूँजीवादी व्यवस्था का लक्ष्य है **'पूँजीपतियों को ज्यादा-से-ज्यादा नफा हो'**, **'धन-लोभ ने मानव-भावों को पूर्ण रूप से अपने अधीन कर लिया है।'**

प्रेमचंद ने पूँजीवादी व्यवस्था की धन-पूजा और समाज-विरोधी स्वभाव पर लिखते हुए बताया है कि परिवार के सदस्यों के संबंध भी आर्थिक आधारों पर बन रहे हैं, पारिवारिक संवेदनाओं का यहाँ कोई मूल्य नहीं है, **"इस महाजनी सभ्यता ने दुनिया में जो नई रीति-नीतियाँ चलाई हैं उनमें सबसे अधिक घातक और रक्त-पिपासु यही**

व्यवसाय वाला सिद्धांत है। मियाँ-बीवी में बिजनैस, बाप-बेटे में बिज़नैस, गुरु-शिष्य में बिज़नैस, सब मानवीय, आध्यात्मिक और सामाजिक नेह-नाते समाप्त।''[2]

1936 के दौर में, मार्क्सवाद ने विचारों की दुनिया में क्रांति मचा दी थी। नई-पुरानी तमाम जीवन-दृष्टियों और विचारधाराओं को मार्क्सवाद के सामने रखकर देखा जाने लगा था। अधिकांश बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवाद को गंभीरता पूर्वक विचार का विषय बनाया। इस वर्ष की साहित्यिक पत्रिकाओं में गाँधीवादी और मार्क्सवाद को लेकर गंभीर चर्चा मिलती हैं। दोनों के पक्ष-विपक्ष में तर्क दिए गए हैं, दोनों को दर्शन और व्यवस्था के रूप में जाँचा-परखा गया है।

गाँधीवाद और मार्क्सवाद को लेकर की गई बहस से संबंधित मुझे सात लंबे लेख तथा चार संपादकीय मिले हैं–

1. गाँधीवाद और समाजवाद–श्री रामनाथ 'सुमन'-विश्वमित्र, मई 1936
2. गाँधीवाद और समाजवाद–श्री रामनाथ 'सुमन'–विश्वमित्र, जून, 1936
3. साम्यवाद के प्रति विरोध क्यों?–श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र–विश्वमित्र, मई 1936
4. शांति का संदेशवाहक-पूँजीवाद या साम्यवाद?–श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, विश्वमित्र, सितम्बर 1936
5. गाँधीवाद और साम्यवाद–श्रीयुत् सम्पूर्णानंद–विशाल भारत, अप्रैल 1936
6. महात्मा गाँधी और साम्यवाद–प्रो० ब्रजनारायण–विशाल भारत, अप्रैल 1936
7. गाँधीवाद और साम्यवाद–श्री शिवनाथ पाठक–विशाल भारत, जून 1936

संपादकीय–

1. विश्वमित्र – अक्टूबर 1936 सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'।
2. विशाल भारत–मार्च 1936 सं० बनारसी दास चतुर्वेदी।
3. विशाल भारत–जून 1936 सं० बनारसी दास चतुर्वेदी।
4. चाँद – मई 1936 – सं० नंदकिशोर तिवारी।

इनमें से अधिकांश लेखक मार्क्सवाद को अपेक्षाकृत वैज्ञानिक दर्शन मानते हुए समाज के व्यापक हित के अनुकूल बताते हैं। कुछ लेखों में मार्क्सवाद और गाँधीवाद के समन्वय पर ज़ोर दिया गया है। बताया गया है कि मार्क्सवाद की अधिकांश बातें गाँधीवाद में मौजूद हैं, इसलिए थोड़ा इधर-उधर कर इनमें समन्वय करके इनकी कमियों को दूर किया जा सकता है। इस बहस में श्री **रामनाथ 'सुमन'** एकमात्र लेखक हैं, जिनका एक लेख दो अंकों में धारावाहिक रूप में छपा, जिनका विचार है कि मार्क्सवाद अत्यंत सामान्य कोटि का दर्शन है। इसकी तुलना में गाँधीवाद अत्यंत वैज्ञानिक और व्यावहारिक दर्शन है। श्री **'सुमन'** के लेख को पढ़कर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि गाँधीवाद स्पष्ट तौर पर लिखित दर्शन के रूप में उपलब्ध नहीं होने के कारण विरोधियों और समर्थकों के द्वारा मनमाने ढंग से भी समझा गया।

'विशाल भारत', जून, 1936 ई० में छपे शिवनाथ पाठक के लेख **'गाँधीवाद और साम्यवाद'** से भी उपर्युक्त बहस की सूचना मिलती है। उन्होंने संबंधित कई लेखों और पुस्तकों की चर्चा इस लेख में की हैं, **''दीवान**

रामचंद्र कूपर ने 'साम्यवाद की ओर' शीर्षक एक पुस्तक लिखकर हिन्दी के पाठकों को यह बतलाने की कृपा की है कि मनु के आईने ही सबसे सुन्दर और उच्च कोटि की व्यवस्था है। श्री रामदास गौड़ ने गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले 'कल्याण' में एक लेख लिखकर 'रामराज्य' को ही साम्यवाद सिद्ध करने की चेष्टा की है।''[3] आगे श्री शिवनाथ पाठक लिखते हैं, ''महात्मा गाँधी जैसे महान् पुरुष तक ने जमींदारों के डेपुटेशन के उत्तर में कानपुर में 'विशुद्ध स्वदेशी साम्यवाद' की व्याख्या कर दी थी। काशी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् डॉ० भगवानदास ने 'मनु साम्यवाद' का सिद्धांत स्थिर किया है.....। सुना जाता है कि कलकत्ते के खादी प्रतिष्ठान के डॉ० सतीशचन्द्र दासगुप्ता ने भी 'हिन्दू साम्यवाद' नामक एक नई 'थियोरी' निकाली है।''[4] निदान यह है कि ''हिन्दी के लेखकों ने साम्यवाद की बड़ी छीछालेदर की है।''[5]

श्री शिवनाथ पाठक गाँधीवाद और साम्यवाद के समन्वय के सख्त विरोधी हैं। काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेता श्री संपूर्णानंद के ऐसे प्रयासों की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं, ''औरों के संबंध में क्या कहा जाय, काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेता श्रीसंपूर्णानंद जी स्वयं भारतीय संस्कृति के अनुकूल साम्यवाद के नये स्वरूप की तलाश में हैं।''[6] इस टिप्पणी के बाद श्री संपूर्णानंद के 'जागरण' 30 जुलाई 1934 ई० और 'विशाल भारत', अप्रैल 1936 ई० में प्रकाशित दो लेखों के उद्धरण देकर श्री शिवनाथ पाठक ने अपने मत की पुष्टि की है। श्री रामनाथ 'सुमन' की गाँधीवाद की तरफ झुकी हुई समन्वयवादी दृष्टि का मजाक उड़ाते हुए लेखक ने लिखा है, ''उन्होंने गाँधीवाद और साम्यवाद का और भी मीठा 'मिक्सचर' तैयार किया है।''[7]

गाँधीवाद और मार्क्सवाद की इस बहस में सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को आधार बनाकर तर्क पेश किए गए हैं। समाज को समतामूलक और अर्थव्यवस्था को गरीबों के अनुकूल बनाने में गाँधीवाद सक्षम है या मार्क्सवाद? बहस की मूल धूरी यहीं पर है। मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में गाँधीवाद की और गाँधीवादी आध्यात्मिकता या नैतिकता के संदर्भ में मार्क्सवाद की कठिन चर्चा भी यहाँ मिलती है। अपील यह है कि अभारतीय होने के कारण मार्क्सवाद हमारे लिए उपयुक्त नहीं है, अत: इसे छोड़ देना चाहिए; दूसरी तरफ मार्क्सवाद के भारतीय रूप की तलाश का प्रयास दिखाई पड़ता है। मार्क्सवाद के अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप के समर्थक इसे एक विश्वव्यापी व्यवस्था के रूप में देखते हैं। इस बहस में शामिल कुछ लेखकों ने माना है कि भारत को समझने में गाँधीवाद अपेक्षाकृत ज़्यादा सक्षम है, क्योंकि यह शुद्ध भारतीय दर्शन है। भारत का समाज धार्मिक और नैतिक है, अत: आर्थिक आधार पर विश्लेषण करने वाला मार्क्सवाद भारत को समझने में असमर्थ है। गाँधीवाद के मूल में सत्य, धर्म, नैतिकता आदि हैं, जो भारतीय समाज की पहचान हैं। जिन कामों को हम मार्क्सवाद के सहारे करना चाहते हैं, उन्हें गाँधीवाद के सहारे ज़्यादा आसानी से और टिकाऊ रूप में किया जा सकता है। इसके विपरीत मत के लेखक मानते हैं कि गाँधीवाद पूँजीपतियों और सामंतों के हित में है। गरीबों को थोड़ा-बहुत देकर बहलाने में गाँधीवाद माहिर हैं।

श्री रामनाथ 'सुमन' ने 'विश्वमित्र', मई-जून 1936 ई० के अंकों में छपे अपने दो खंडों के लेख में निष्कर्ष के तौर पर लिखा है, ''मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गाँधीवाद अधिक क्रांतिकारी है; राजनीतिक दृष्टि से अधिक सम्भव, सरल एवं व्यावहारिक है और नैतिक दृष्टि से मानव-सौहार्द का जनक एवं प्रेरक होने के कारण, श्रेष्ठतर है।

सामाजिक दृष्टि से वह सुसंस्कृत अराजकवाद है। वह साम्यवाद का एक ऐसा विस्तृत-निर्दोष रूप है, जिसमें व्यक्ति की पवित्रता एवं राष्ट्र अथवा समाज का हित दोनों सुरक्षित हैं और जो समाजवाद की तरह सर्वसाधारण को पूँजीवादी लूट से तो बचाता ही है, उनकी आध्यात्मिक एवं नैतिक प्यास को भी शांत करता है। साहसिकता का इसमें विस्तृत क्षेत्र है; गहरी से गहरी महत्त्वाकांक्षा की गुंजाइश इसमें है। यह मानव-समाज को उसकी मुक्ति का संदेश देता है और सभी दृष्टियों से मानव-जाति के उद्धार के अन्य कार्यक्रमों पर तरजीह दिये जाने के योग्य है।''[8]

श्री 'सुमन' के अनुसार गाँधीवाद 'क्रांतिकारी', व्यक्ति और समाज के हितों की रक्षा करने वाला, 'सर्वसाधारण को पूँजीवाद से बचाने वाला' और 'मानव-समाज को उसकी मुक्ति का संदेश' देने वाला दर्शन है। इस बहस पर छपे सात लंबे लेख तथा चार संपादकीय लेख मुझे प्राप्त हुए हैं। एकमात्र श्री रामनाथ 'सुमन' ही उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँच पाए 'हैं, अन्यथा तमाम लेखों में गाँधीवाद की अपेक्षा मार्क्सवाद को ऊँचा स्थान दिया गया है।

मार्क्सवाद के महत्त्व को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हुए, गाँधीवाद और उनके वर्णाश्रम को ऊँची जगह दिलाने की कोशिश भी दिखाई पड़ती है। 'साम्यवाद के प्रति विरोध क्यों?' (विश्वमित्र, मई 1936) नामक लेख में श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए० बी० एल० लिखते हैं, "**साम्यवाद के प्रति महात्मा गाँधी का जो विरोध है, उसमें भी हम आदर्श की अपेक्षा उसकी कर्मनीति के संबंध में ही विशेष विरोध पाते हैं। गाँधीजी वर्णाश्रम धर्म का जो आदर्श ग्रहण करते हैं, वह प्राचीन भारतवर्ष के वर्णाश्रम का बहुत कुछ साम्यवादी संस्करण-जैसा प्रतीत होता है।**''[9] यहाँ साम्यवाद का अप्रत्यक्ष विरोध है। लेखक का विचार है कि साम्यवाद-जैसी व्यवस्था तो पहले से वर्णाश्रम में मौजूद है, अत: इसके लिए विदेशी सिद्धांत को अपनाने की ज़रूरत है?

भारत की तत्कालीन अर्थव्यवस्था और समाज-व्यवस्था पर गौर करने वाले लेखकों का विचार है कि मार्क्सवाद अपेक्षाकृत ज़्यादा वैज्ञानिक है। गाँधीवाद और काँग्रेस की नीति आमूल परिवर्तन में विश्वास नहीं करती। समस्या भले ही विकराल हो, गाँधीवाद धीमी गति से बदलाव चाहता है। वह पुरोहितों, जमींदार और पूँजीपतियों को पूरी तरह आश्वस्त करता है कि वे घबराएँ नहीं, उनके अधिकार बरकरार रहेंगे। गाँधीवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थक है। वह चाहता है कि परम्परा से चली आ रही आर्थिक विषमता को अमीरों के हृदय-परिवर्तन के भरोसे छोड़ दिया जाए। अमीरों को चाहिए कि वे स्वयं को गरीबों का अभिभावक समझें और इस प्रकार गरीबों के हित में लगे रहें कि धीरे-धीरे गरीबी मिटती जाए।

मार्क्सवाद की स्पष्ट दृष्टि है कि जमींदारी और पूँजीवाद क्रमश: किसानों और मज़दूरों के श्रम के शोषण पर आधारित हैं। ये किसी भी हालत में श्रम का शोषण बंद नहीं कर सकते क्योंकि इनका अस्तित्व एकमात्र शोषण पर ही आधारित है। अत: श्रम के शोषण को बंद कराने के मामले में गाँधीवाद सक्षम नहीं है। 'गाँधीवाद और साम्यवाद' (विशाल भारत, अप्रैल 1936) नामक लेख में श्रीयुत् संपूर्णानंद लिखते हैं, "**श्रेणी-भेद के रहने के अर्थ ही हैं श्रेणी-दोष, चाहे वे कितने ही क्षीण क्यों न हो जाएँ। साम्यवाद सबको पूर्ण त्याग और अपरिग्रह की शिक्षा देना चाहता है। गाँधीवाद एक वर्ग को अपूर्ण त्याग और अपरिग्रह सिखलाएगा, दूसरे वर्ग को संतोष। संघर्ष की जड़ बनी रहेगी। दान का भाव बड़ा उत्तम है; पर इसका भाव यह नहीं है कि समाज में दानपात्रों का एक**

वर्ग उत्पन्न किया जाए। सबसे अच्छा तो यही है कि कोई किसी का आश्रित न हो। जब एक बार संग्रह की अनुमति मिली, तो फिर वह कहाँ जाकर रुकेगी, यह कहना कठिन है। इस दृष्टि से गाँधीवाद सदोष है, क्योंकि वह आधी ही दूर जाकर रुक जाता है। समाज का श्रेणी-भेद और तज्जन्य श्रेणी-संघर्ष-रोग इतना भीषण हो गया है कि अब बिना पूरे छेदन के वह दूर नहीं हो सकता, और इस छेदन का ही नाम साम्यवाद है।''[10]

1936 ई० स्वतंत्रता आंदोलन के दौर का वर्ष है। स्वतंत्रता आंदोलन के संचालन में **गाँधीवाद** की सक्षमता पर कोई संदेह इन पत्रिकाओं में नहीं दिखता। अंग्रेजों को भारत से बाहर करने और पूर्ण स्वराज्य की अवधारणाएँ तब राजनीति में आ चुकी थीं। हिन्दी के लेखकों की चिंता यह थी कि किसान-मज़दूर की समस्याओं का समाधान स्वतंत्र भारत में भी हो पाएगा या नहीं? इस मामले में गाँधीवादी नीति से असहमति चारों तरफ सुनाई पड़ रही थी। **'महात्मा गाँधी और साम्यवाद'** (विशाल भारत, अप्रैल, 36) शीर्षक लेख में प्रो०,ब्रजनारायण लिखते हैं, **''काँग्रेस की मौजूदा नीति भूमि पर राज्य का अधिकार होने के अनुकूल नहीं है। इससे हम यह अनुमान निकाल सकते हैं कि यद्यपि महात्मा गाँधी उन सब बातों का समर्थन करेंगे, जिनसे किसानों की आर्थिक अवस्था में सुधार हो; किंतु वे किसी ऐसे आंदोलन का साथ न देंगे, जिसमें कृषि-भूमि के वर्तमान मालिकों-जमींदारो-का भूमि पर से अधिकार छीनने की बात हो।''**[11]

काँग्रेस नहीं चाहती कि किसान-मज़दूर के पास शोषणमुक्त आर्थिक आधार हो। गाँधीवाद परम्परा के नाम पर मौजूदा व्यवस्था को तीन-पाँच करके न्यायसंगत बताता है और उसे बनाए रखने की वकालत करता है। धर्म, आस्था, परंपरा, समरसता, सत्य, अहिंसा, प्रेम जैसे तत्त्वों का भावनात्मक इस्तेमाल करके गाँधीवाद शोषकों को संरक्षण देता है और शोषितों को भ्रम में रखता है कि उनका जल्द ही उद्धार होनेवाला है। उपर्युक्त लेख में प्रो० ब्रजनारायण लिखते हैं, **''काँग्रेस का आर्थिक प्रोग्राम कोई साम्यवादी प्रोग्राम नहीं है, वह साम्यवाद से कोसों दूर है।''**[12] क्योंकि **''जब जमींदारी-पद्धति उठा दी जाएगी, तभी भारतीय कृषकों का सुधार-'सुधार' शब्द के वास्तविक अर्थ में-हो सकेगा।''**[13] और गाँधीवाद जमींदारी-प्रवृत्ति को उठाना नहीं चाहता।

मार्क्सवाद केवल आर्थिक प्रोग्राम नहीं है। जीवन के तमाम पहलुओं को देखने और जाँचने-परखने की दृष्टि इससे मिलते है। मार्क्सवाद मनुष्य के मनोविज्ञान और भावनाओं को समझने में समर्थ है। वह मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्ति का भी विश्लेषण करता है, किंतु कोरी भावुकता के साथ नहीं। वह इस बात पर ज़्यादा ज़ोर देता है कि भावुकता की आड़ में मानवता के खिलाफ कोई षड़यंत्र तो नहीं चल रहा है? मार्क्सवाद ठोस और वास्तविक समस्याओं के कारणों की खोज और उसके निराकरण में विश्वास रखता है। वह भावनाओं की उन्मुक्त उड़ान पर पाबंदी नहीं लगाता। भावनाओं को ठोस आधार प्रदान करके, किसी भी व्यवस्था के द्वारा वह व्यक्ति और समाज को भावनात्मक शोषण से बचाता है। इस तरह मार्क्सवाद संसार को व्यापक तौर पर समझने की दृष्टि प्रदान करता है उसका लक्ष्य है–शोषणमुक्त समाज की स्थापना। वह शोषण को किसी भी तर्क या तरीके से बनाए रखने के ख़िलाफ है। समझौते की बुनियाद पर मार्क्सवाद अपनी रीढ़ झुकाना नहीं जानता। उसके पास विश्व दृष्टि है, प्रो० ब्रजनारायण उपर्युक्त लेख में आगे लिखते हैं, **''जैसा कि मैं समझता हूँ, साम्यवाद केवल आर्थिक सुधारों की योजनामात्र नहीं है। वह हमारे जीवन का एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करता है, और हमारे सामाजिक**

संबंधों को एक नए रूप में पेश करता है। जीवन का जो दृष्टिकोण भारत के जनसाधारण को पसंद आता है, और महात्मा गाँधी जिसके प्रतिनिधि हैं, वह है धार्मिक दृष्टिकोण। यह साम्यवादी सिद्धांतों के एकदम प्रतिकूल है, क्योंकि साम्यवादियों का उसूल तो यह है कि 'धर्म जीवन के लिए अफीम है'। साम्यवाद का प्रवर्तक कार्ल मार्क्स केवल यूरोप की अवस्था से ही परिचित था; किंतु धर्म के संबंध में उसका कथन यूरोप के किसी भी देश की अपेक्षा भारत पर अधिक लागू होता है।''[14]

भारत पर धर्म का गहरा असर है। धर्म की लोकप्रियता और बहुग्राह्यता का राजनीतिक इस्तेमाल करने में गाँधीजी को अपार सफलता मिली। उन्होंने जनसामान्य में राजनीतिक चेतना फैला दी, किंतु जड़ जमायी हुई समस्याओं के ख़िलाफ उन्होंने कभी भी कठोर रणनीति नहीं अपनाई। गाँधी जी ने राजनीति में धर्म की मदद ली, किंतु धर्म के शोषणमूलक स्वरूप के ख़िलाफ कुछ नहीं कहा। उन्होंने किसानों की हालत सुधारने के लिए काफी उत्साह दिखाया, किंतु किसानों के असली दुश्मन जमींदारों या जमींदारी-प्रथा को समाप्त करने की बात कभी नहीं की। गाँधी जी नें अछूतों को 'हरिजन' बनाकर सम्मान का प्रदर्शन किया, किन्तु अछूतों के असली दुश्मन वर्णाश्रम और हिंदू धर्म पर उन्होंने कभी भी उँगली नहीं उठाई। गाँधीवाद अपनी दोहरी नीति से दोनों पक्षों को एक साथ अपना विश्वस्त बनाने में कुशल है। 'गाँधीवाद और साम्यवाद' शीर्षक लेख में श्री शिवनाथ पाठक ने श्री जय प्रकाश नारायण की किताब **'WHY SOCIALISM'** से उद्धृत करते हुए लिखा है, ''गाँधीवाद का सिद्धांत चाहे शुभेच्छा से भले ही चलाया गया हो; परन्तु यह एक भयावह सिद्धांत है। भयावह इस कारण कि यह वास्तविक प्रश्न को गौण बना देता है और सदिच्छा द्वारा समाज की बुराई दूर करने का स्वाँग करता है।''[15]

1936 ई० के लखनऊ काँग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से जवाहरलाल नेहरू ने समाजवाद के प्रति अपना विश्वास जताया। भावी भारत के निर्माण में समाजवाद की अपरिहार्य भूमिका को नेहरू महसूस कर रहे थे। स्वतंत्रता आंदोलन के नेतृत्व के लिए काँग्रेस की नीति का वे समर्थन कर रहे थे, किंतु भारत की आर्थिक और सामाजिक अवस्था को दुरुस्त करने के लिए समाजवाद की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए नेहरूजी ने अपने अभिभाषण में कहा, ''मुझको यकीन है कि दुनिया के मसलों और हिन्दुस्तान के मसलों को हल करने का सिर्फ एक तरीका है और वह समाजवाद है। जब मैं इस लफ़्ज को इस्तेमाल करता हूँ तो उसे इंसान-परस्ती के संदिग्ध मानी में नहीं, लेकिन वैज्ञानिक और आर्थिक मानी में इस्तेमाल करता हूँ। साथ ही समाजवाद एक आर्थिक सिद्धान्त से ज़्यादा मानी रखता है। वह ज़िन्दगी का एक बुनियादी उसूल है। इस वजह से भीवह मुझे अपनी तरफ खींचता है। सिवाय समाजवाद के मैं कोई दूसरा तरीका नही देखता जिससे अपने हिंदुस्तानी भाइयों की ग़रीबी, गज़ब की बेकारी, गिरी हुई हालत और गुलामी हम दूर कर सकते हैं।.....इस तरह समाजवाद मेरे लिए सिर्फ एक आर्थिक सिद्धांत की बात नहीं जिसे मैं पसंद करता हूँ, बल्कि वह मेरे लिए एक जीवित धर्म है जो मेरे दिमाग़ और दिल की चीज़ है। मैं हिन्दुस्तान के लिए आज़ादी हासिल करने की कोशिश इसलिए करता हूँ कि मेरे भीतर का जज़बा विदेशी हुकूमत को बरदाश्त नहीं कर सकता, इससे भी ज़्यादा मैं उसके लिए कोशिश इसलिए करता हूँ कि आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था में रद्दो-बदल होने के लिए वह एक ज़रूरी क़दम है।''[16]

जवाहरलाल नेहरू के विचारों से सहमत 'चाँद' के संपादक नंदकिशोर तिवारी ने टिप्पणी की, ''पं०

जवाहरलाल का यह अभिभाषण अपने ढंग का एक निराला और ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला संदेश है जिसे समस्त देश-हितैषियों और मानवीय अधिकारों के समर्थकों को मनन करना चाहिए।''

इस तरह हम देखते हैं कि 1936 में प्रकाशित हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं का रुख मार्क्सवाद की तरफ मुड़ रहा था। गाँधीवाद से एक हद तक सहमत होने के बाद मार्क्सवादी रुझान जन चेतना को आकर्षित कर रहा था। हिन्दी साहित्यकारों और विचारकों में से अधिकांश तर्क की कसौटी पर मार्क्सवाद को गाँधीवाद की अपेक्षा ज़्यादा खरा बतला रहे थे। उपर्युक्त चर्चित लेखकों और संपादकों में से कोई भी गाँधीवाद के महत्त्व को नकार नहीं रहा था, परंतु प्राय: सबको गाँधीवाद की सीमाओं का एहसास होने लगा था। स्वतंत्रता आंदोलन की राजनीतिक जरूरतों के लिए गाँधीवाद को उपयुक्त माना जा रहा था, किंतु अर्थव्यवस्था और सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए मार्क्सवाद की तरफ लोग उन्मुख हो रहे थे।

1936 में निर्मित साहित्य की जनवादी संस्कृति के निर्माण में नारीवादी लेखन की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पुरुषवादी वर्चस्व के ख़िलाफ स्त्री के स्वर मजबूती से उभरने लगे थे। तत्कालीन पत्रिकाओं में नारीवादी लेख अच्छी संख्या में छप रहे थे। लेखकों में महिलाओं की संख्या भी बढ़ रही थी। प्राय: प्रत्येक पत्रिका के प्रत्येक अंक में स्त्री की दुरवस्था या उसके अधिकारों से संबंधित लेख छप रहे थे। इस क्रम में **महादेवी वर्मा** की चर्चा अलग से होनी चाहिए।

महादेवी वर्मा 1935 में 'चाँद' मासिक पत्रिका की संपादक बनी। नवम्बर 1934 में 'चाँद' का नारी आंदोलन अंक निकला था। पुन: 1935 में इसका विदुषी अंक निकला। **महादेवी** ने संपादक और लेखक के रूप में स्त्री-जीवन से संबंधित कई लेख लिखे, जो 1942 में **'शृंखला की कड़ियाँ'** नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इस पुस्तक के लेखों में भारतीय स्त्री की पराधीनता, विवशता तथा उनके कारणों की सामाजिक-ऐतिहासिक पड़ताल की गयी है। **प्रो० मैनेजर पाण्डेय** ने **'शृंखला की कड़ियाँ'** के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हुए लिखा है, "जो लोग यह समझते हैं कि स्त्री की स्वाधीनता की विचारधारा सत्तर के दशक में फ्रांस और अमेरिका से भारत आयी है, उन्हें यह जानकरआश्चर्य होगा कि **'शृंखला की कड़ियाँ'** 1942 में छपी थी और उसके अधिकांश निबंध तीस के दशक में प्रसिद्ध पत्रिका चाँद के सम्पादकीय लेखों के रूप में प्रकाशित हुए थे। तब तक सारी दुनिया में नारीवादी सोच और आंदोलन को प्रेरित और प्रभावित करने वाले **सिमोन द बोउआ** की पुस्तक **'द सेकिण्ड सेक्स ''अस्तित्व में न थी। वह फ्रांसीसी में 1949 ई० में छपी और अंग्रेज़ी में सन् 1953 में। उसका कुछ साल पहले ही 'स्त्री उपेक्षिता' नाम से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।''** (स्रोत : तद्भव त्रैमासिक, अप्रैल 2000, अंक-३, पृ० 88)

इस पुस्तक की **'अपनी बात'** में **महादेवी वर्मा** बिना किसी उलझन के, साफ शब्दों में, कहती हैं, **"उसके अधिकारों के संबंध में यह सत्य है कि वे भिक्षावृत्ति से न मिले हैं न मिलेंगे.....।''**[18] स्त्री अपने अधिकार संघर्ष करके, अपनी योग्यता का विकास करके पा सकती है; पुरुषों की सदाशयता पर निर्भर रहना ठीक नहीं। औरतों को चाहिए कि वे अपनी समस्याओं को समझने की कोशिश करें, ताकि उसके अनुसार मुक्ति और विकास का संतुलित प्रयास कर सकें, **"समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है।.....सामान्यत: भारतीय**

नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। कहीं उसमें साधारण दयनीयता है और कहीं असाधारण विद्रोह है, परन्तु संतुलन से उसका जीवन परिचित नहीं।''[19]

महादेवी वर्मा ने पूरी पुस्तक में इस बात पर ज़ोर दिया है कि स्त्री-स्वाधीनता का मतलब यह नहीं है कि 'ध्वंस के लिए ध्वंस के सिद्धांत' को अपनाया जाए। भारत के प्राचीन से लेकर आधुनिक समाज में स्त्री की स्थिति का प्रवृत्तिगत विश्लेषण इस किताब में किया गया है, स्त्री की स्वाधीनता के स्वरूप में हुए परिवर्तनों को दिखाया गया है। स्त्री की पुरुषवादी गुलामी की निरंतरता को रेखांकित करती हुई महादेवी लिखती हैं, "चाहे द्रौपदी के समान पाँच पति स्वीकार करना हो, चाहे सीता के समान मन, वचन, कर्म और शरीर से एक की ही उपासना हो, चाहे राजपूत-रमणी का जलती चिता में जौहरव्रत हो और चाहे रीति-युग की सौंदर्य-मदिरा बनकर जीवित रहना हो.....।''[20]

महादेवी शिक्षा, चिकित्सा, कानून आदि क्षेत्रों में स्त्री की भूमिका को 'घर और बाहर' नामक लेख में तर्कों सहित पेश करती हैं। महादेवी की चिंता है कि 'हमारे यहाँ स्त्रियों में एक प्रतिशत भी साक्षरता नहीं है' जिसके कारण वे अपनी सामाजिक भूमिका को अधिकार पूर्वक पूरी नहीं कर पातीं। हिन्दू समाज ने धर्म तथा नैतिकता का उपयोग स्त्री को बाँध रखने के लिए हमेशा से किया है। धर्म तथा नैतिकता के मानदण्डों ने स्त्री को स्थायी तौर पर पुरुष का गुलाम तथा उसके लिए उपयोगी बनाए रखने का प्रयास किया है। यहाँ तक कि पढ़े-लिखे पुरुष भी इस मानसिकता से मुक्त नहीं हैं, "प्रत्येक भारतीय पुरुष चाहे वह जितना सुशिक्षित हो, अपने पुराने संस्कारों से इतना दूर नहीं हो सका है कि अपनी पत्नी को अपनी प्रदर्शनी न समझे। उसकी विद्या, उसका कला-कौशल और उसका सौंदर्य सब उसकी आत्मश्लाघा के साधन मात्र हैं। जब कभी वह सजीव प्रदर्शन की प्रतिमा अपना भिन्न व्यक्तित्व व्यक्त करना चाहती है, अपनी भिन्न रुचि या भिन्न विचार प्रकट करती है, तो वह पहले क्षुब्ध, फिर असंतुष्ट हुए बिना नहीं रहता।''[21]

'स्त्री के अर्थ-स्वातंत्रय का प्रश्न' नामक लेख में महादेवी वर्मा ने परंपरा से स्त्री की आर्थिक परवशता को पुरुषवादी समाज की साजिश के रूप में पेश किया है, "समाज ने स्त्री के संबंध में अर्थ का विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी वर्ग से लेकर संपन्न वर्ग की स्त्रियों तक की स्थिति दयनीय ही कही जाने योग्य है। वह केवल उत्तराधिकार से ही वंचित नहीं है, वरन् अर्थ के संबंध में सभी क्षेत्रों में एक प्रकार की विवशता के बंधन में बँधी हुई है।''[22]

स्त्री के उत्तराधिकार की माँग उठाकर महादेवी ने आर्थिक गैर-बराबरी के विरुद्ध कदम बढ़ाया है। महादेवी की चिंता में श्रमजीवी वर्ग से लेकर संपन्न वर्ग की महिलाएँ हैं। वेसे तो उन्होंने स्त्री समाज को एक मानकर उनकी समस्याओं को देखा है, पर जहाँ भी ज़रूरत पड़ी है स्त्री की वर्गीय स्थिति को ध्यान में रखकर विश्लेषण किया हैं।

'युद्ध और नारी' शीर्षक लेख में महादेवी ने युद्ध से स्त्री के संबंधों को देखते हुए बताया है कि 'युद्ध उसके विकास में भी बाधक रहा है' क्योंकि 'युद्धकाल में स्त्री सम्पूर्ण स्त्री कभी नहीं बन सकी' उन्होंने 'आधुनिक युद्ध-प्रिय राष्ट्रों' का विरोध किया है क्योंकि ये राष्ट्र स्त्रियों की सेना बना रहे हैं। महादेवी ने इस लेख में युद्ध

का विरोध किया है। युद्ध में स्त्री को सर्वाधिक नुकसान होता है। विभिन्न युद्धों तथा दो विश्वयुद्धों का हम अध्ययन करें तो पाएँगे कि युद्ध के दरम्यान सबसे ज़्यादा अत्याचार औरतों पर ही हुए हैं। महादेवी ने युद्ध की प्रवृत्ति को पुरुषावादी मानसिकता की देन बताया है। युद्धोन्माद का विरोध करती हुई **महादेवी** जनवादी ताकतों के साथ खड़ी दिखाई देती हैं।

1936 की साहित्यिक पत्रिकाओं में प्रकाशित स्त्री-संबंधी लेखों को देखें तो स्थिति बहुत ही उत्साहवर्द्धक है। **'विश्वमित्र'** के प्रत्येक अंक में **'महिला-संसार'** नामक खंड हुआ करता था, जिसमें स्त्री-जीवन से संबंधित वाद-विवाद या समाचार छपते थे। अन्य सभी पत्रिकाओं के भी प्राय: प्रत्येक अंक में कोई-न-कोई रचना स्त्री से संबंधित होती थी। इन रचनाओं में स्त्री के अधिकारों के प्रति काफी जागरूकता दिखाई गई है। स्त्रियों ने खुली भाषा और स्पष्ट शब्दों में अपनी बात कही है।

'चाँद', जुलाई 1936 ई० के लेख **'स्त्रियों के अधिकार'** में **मिसेज रामसिंह विद्यार्थी** ने स्त्री के अधिकारों की चर्चा अत्यंत विश्वास से की है। स्त्री-आंदोलन की संवेदना और समझदारी इस लेख में दिखाई पड़ती है–

".....हमारी तहरीक का यह मनशा क़तई नहीं कि हम उनसे (पुरुष-समाज से) जंग करने की तैयारी कर रही हैं। हम तो सिर्फ वही बात चाहती हैं जिसको वे खुद इतना ज़्यादा प्यार करते हैं। वे आज़ादी के पुजारी हैं। आज़ादी उनके सब तरह के सुख का मूल है तो समझ में नहीं आता कि वही चीज़ किस तरह हमारी तबाही का कारण बन सकती है। दूसरी यह दलील भी कि औरतों को पच्छिम की हवा लग गई है, कुछ माने नहीं रखती। क्योंकि आप कितनी ही कोशिश क्यों न करें, पूरब और पच्छिम के मिलन को अब नहीं रोक सकते।"[23]

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में स्त्री के अधिकारों को सामने रखा है, **"फिलहाल औरतें तीन बातें चाहती हैं और वे हैं–1. काम करने और पाने का हक, 2. ज़िन्दगी का साथी खुद चुनने का हक़ और 3. शादी होने के बाद बच्चे पैदा करने न करने का हक़।"**[24] मिसेज विद्यार्थी के विचार से उपर्युक्त अधिकार प्राप्तकरके स्त्री-समाज अपनी हालत में सुधार कर सकता है।

वर ढूँढ़ने की परंपरागत प्रथा में स्त्री की इच्छा का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा जाता है, सब कुछ स्त्री के भाग्य के भरोसे छोड़ दिया जाता है। इस अनिश्चित स्थिति की विडम्बनाओं का शिकार स्त्री को होना पड़ता है, **"ज़रा ख़्याल कीजिए आज हमारी क्या हालत है। माँ-बाप या वारिस हमको वर ढूँढ़ देते हैं और उम्मीदर करते हैं कि जो आदमी उन्होंने अपनी लड़की या बहिन के लिए ढूँढ़ लिया है, दुनिया में वही उसके लिए सबसे अच्छा है। इसलिए लड़की को उम्र भर उसके साथ रहना चाहिए। लड़की यह भी नहीं जानती कि उसका स्वभाव कैसा है, वह किस बात को पसंद करता है और किसको नहीं। एकदम माँ-बाप के घर से निकाल कर उसको उस अजनबी आदमी के साथ रख दिया जाता है। वह जो करे सब ठीक। स्त्री की कोई आवाज़ नहीं। वह उसके देवता हैं, उनकी पूजा उसको करनी ही चाहिए।"**[25]

मिसेज रामसिंह विद्यार्थी ने दहेज-प्रथा का कारण बताया है-स्त्री को अपना पति ढूँढ़ने का अधिकार न होना। दहेज के कारण लड़कियों की हत्याएँ और आत्महत्याएँ भी हुई हैं, **".....अपना शौहर खुद चुनने का हक़ न होने की वजह से क्वाँरी लड़कियों को जिन दिक्कतों का सामना करना पड़ता है, वह किसी से छिपी नहीं।**

अभी उस दिन की बात है, कलकत्ते में एक भले घर की तीन जवान लड़कियाँ इसलिए ज़हर खाकर मर गईं कि उनका बाप दहेज की पूरी-पूरी रक़म अदा नहीं कर सका था।.....समाज एक सड़े हुए रिवाज़ को क़ायम रखने के लिए अपनी होनहार बहू-बेटियों के पाक ख़ून से अपना दामन रँगता है और उसको शर्म नहीं आती। इन रात-दिन की दुर्घटनाओं को ख़त्म करने का सिर्फ़ यही तरीका है कि आदमी औरतों के इस अधिकार को कि वे अपना पति चुनें, मञ्जूर कर लें। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। उस हालत में दहेज का सवाल ही न उठेगा।''[26]

लेख के अंत में पुरातनपंथियों को चेतावनी दी गयी है कि जिस तरह बचपन के कपड़े जवानी में काम नहीं आते उसी तरह मनु आदि के कानून अब बेकार हो चुके हैं, "दुनिया बदल रही है। उसके साथ चलने में भला है। समय की चाल के ख़िलाफ चलने वाले धोखा खाया करते हैं और उनको तवारीख़ के अँधेरे कोने में जगह मिला करती है। पुराने रीति-रिवाजों की चादर गन्दी हो चुकी है। उसको फेंकना ही होगा अबलाओं के आँसुओं और ख़ून से वह तर है, पुरुष-समाज को मेरी बातों पर गौर करते वक्त यह ध्यान में रखना होगा।''[27]

स्त्रियों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों की चर्चा के क्रम में उनके जीवन के अनेक पहलू सामने आते हैं। 'स्त्रियों का राजनीतिक जीवन' (सुधा: जनवरी 1936) शीर्षक लेख में श्रीयुत दीनानाथ व्यास ने रूस, अमेरिका, इंग्लैण्ड जैसे विकसित देशों के उदाहरण से बताया है कि बिना नारीवादी आंदोलन के भारत की स्त्रियों का विकास नहीं हो पाएगा, क्योंकि, "इंग्लैण्ड में सर्वप्रथम प्रिमरोज-लीग कायम हुई थी, और वह थोड़े ही अरसे में व्यापक हो गई।.....अब वहाँ के राजनीतिक जीवन में महिलाओं को उचित स्थान मिल गया है।'' अंत में लेखक ने मानो पुरुष-समाज से अपील की है, "जनतंत्र की पुकार चारों ओर मची है। इस समय महिलाएँ राष्ट्र-निर्माण के लिए जितना आगे बढ़ें बढ़ने दिया जाय, क्योंकि उनके उत्थान में ही हम स्वराज्य के नज़दीक पहुँच रहे हैं।''[28]

'समाज में स्त्रियों के अधिकार' (चाँद : अक्टूबर 1936) शीर्षक लेख में श्री रामस्वरूप ने धार्मिक और परंपरागत दृष्टिकोणों की समीक्षा करते हुए उसके पुरुषवादी रुख को पाठकों के सामने रखा है। सदियों से चली आ रही स्त्री-दासता को तथाकथित संस्कृतिवादियों ने गोलमोल शब्दों में छिपा रखा है, "मनुस्मृति में स्त्री को पिता, पति, पुत्र का संरक्षण न छोड़ने का आदेश दिया गया है। यदि कहीं कहा गया है, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता' तो यह केवल मौखिक प्रशंसा है। सारी स्वतंत्रता, सारे व्यक्तित्व को खोकर स्त्री पूजा नहीं चाहती।''[29]

'भारतीय उद्योग-धंधों में मजदूर स्त्रियाँ' (चाँद : अक्टूबर 1936) में श्री शंकर सहाय सकसेना ने विस्तार से बताया है कि भारत के उद्योगों और खानों में काम करने वाली मज़दूर स्त्रियों को कितना और किन परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। काम के घंटे, काम की जगह और काम की प्रकृति इतने प्रतिकूल हैं कि मज़दूर स्त्रियाँ अमानवीय व्यवहार का शिकार हो रही हैं। लेखक का विचार है, "अभी तक स्त्रियों को जो भी सुविधाएँ मिली हैं वह सरकार, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ, भारतीय श्रमजीवी आंदोलन तथा विदेशों में

महिला-आंदोलन के प्रभाव के कारण मिली हैं।.....यह कार्य अखिल भारतवर्षीय महिला-सम्मेलन को अपने हाथ में लेना चाहिए।''[30] हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाएँ मज़दूर स्त्रियों के प्रति जागरूक हो रही थीं। सर्वहारा के प्रति हिन्दी साहित्य के झुकाव का यह प्रमाण है।

कुछ लेखों में भारतीय संस्कृति की परंपरागत मान्यताओं के आधार पर स्त्री-आंदोलनों की आलोचना भी की गयी है, पर ऐसे लेख काफी कम हैं। स्त्री आंदोलनों के पीछे रूस की भूमिका को नकारात्मक ढंग से रेखांकित करके उसकी निंदा की गयी है **'क्या कुमारी लड़कियाँ माताएँ बनेंगी?'** (चाँद : जुलाई 1936 ई०) में **श्री जगदीशचंद्र शास्त्री** ने अविवाहित मातृत्व, स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता आदि की आलोचना करते हुए सोवियत रूस की खिंचाई की है। इससे इतना तो पता चलता ही है कि वोल्शेविक क्रांति के बाद स्थापित समाजवादी रूस की विचारधारा का असर भारत की नयी पीढ़ी पर पड़ रहा था। '36 के दौर के कई प्रतिक्रियावादी, परंपरावादी लेखों में रूस को दुश्मन की तरह देखा गया है। **डॉ० अम्बेदकर** ने अछूतों को, हिंदू धर्म छोड़कर किसी अन्य धर्म को, स्वीकार करने की सलाह दी थी ताकि वे अस्पृश्यता की समस्या से छुटकारा पा सकें और हिंदू समाज की नींद भी खुले। डॉ० अम्बेडकर के इस कदम की भी पुरातनपंथियों ने आलोचना की। तमाम नई विचारधाराओं का विरोध परंपरागत और भावनात्मक तर्कों के आधार पर किया गया है। स्त्री आंदोलनों और समाजवादी रूस को एक साथ लपेटने की कोशिश **श्रीजगदीश चंद्र शास्त्री** ने की है, **''हम तो समझते हैं, बहुत आगे बढ़ी हुई हमारी लड़कियाँ भी, जो स्त्रियों के लिए सब प्रकार की स्वतंत्रता का दम भरती हैं, इस दुर्गम पथ से जाना हर्गिज पसंद नहीं करेंगी। इसका क्या कारण है? यह पवित्र भारत-भूमि है-वोल्शेविक रूस नहीं।''**[31]

'विशाल भारत', मार्च 1936 ई० के अंक में भारतीय साहित्य के निर्माण में स्त्रियों के योगदान की महत्त्वपूर्ण चर्चा हुई है। भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य निर्माण में स्त्रियों के योगदान को प्रस्तुत करना इस लेख का लक्ष्य है। **'भारतीय साहित्य में स्त्रियों का स्थान'** नामक इस लेख में **श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़** ने प्राचीन संस्कृत साहित्य से लेकर बँगला, गुजराती, मराठी, हिन्दी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य निर्माण में स्त्री लेखिकाओं की भूमिका को बहुत अच्छी तरह पेश किया है। बँगला-साहित्य की लेखिकाओं में मानकुमारी देवी, कामिनी राय, प्रियम्वदा देवी, राधारानी देवी, ममता मित्र, अपराजिता देवी, अन्नपूर्णा देवी, निरुप मा देवी, सीता चटर्जी, शान्ता चटर्जी आदि प्रमुख हैं, इसी तरह गुजराती साहित्य की महत्त्वपूर्ण लेखिकाओं में मीरा, विद्यागौरी नीलकंठ, सुमति त्रिवेदी, विजयलक्ष्मी त्रिवेदी, हंसा मेहता (साप्ताहिक **'हिन्दुस्थान'** की सम्पादिका) आदि हैं। **ज्योत्स्ना शुक्ल** ने 1930 ई० के राजनीतिक आंदोलन के समय बहुत-सी राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं, जिनसे उनकी बड़ी ख्याति हुई। **लीलावती मुंशी** के निबंधों, नाटकों और कहानियों में स्त्रियों का समुचित स्वरूप-चित्रण होने के साथ-साथ नए युग की स्त्रियों की आकांक्षाओं और मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब पाया जाता है।

मराठी साहित्य में पहली लेखिका **महादाम्बा** (बारहवीं शताब्दी) थीं। महार जाति (दलित) के चोखामेला की पत्नी भी कविता लिखती थी। आधुनिक युग की पहली लेखिका **काशीबाई** कानिटकर हुईं। मराठी उपन्यासों की शुरुआत करने वालों में इनका नाम लिया जाता है। लेखक ने संजीवनी मराठे को युवा लेखिकाओं में सबसे

उत्कृष्ट माना है। विभावरी शिलाकर की रचनाओं ने मराठी के साहित्यिक जगत् में हलचल मचा दी थी। हिन्दी की लेखिकाओं में सुभद्राकुमारी चौहान, महादेवी वर्मा, चकोरी, ललीजी, मंजु, कमलादेवी, प्रेमभटनागर, कमला कुमारी, उषादेवी मित्रा आदि प्रमुख हैं।

भारतीय साहित्य के नाम पर लेखक श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ ने चार भारतीय भाषाओं (बँगला, गुजराती, मराठी और हिन्दी) के साहित्य-निर्माण में स्त्रियों की भूमिका को देखा-परखा है। **सुसि थारू (Susie Tharu)** और के० ललिता **(K.Lalita)** ने **WOMEN WRITING IN INDIA'** (1993) नामक अपनी पुस्तक में प्राचीन काल से लेकर अब तक के महिला-लेखन पर विचार किया है। 1936 ई० के उपर्युक्त लेख के छोटे फलक में अत्यंत विवेकपूर्ण ढंग से महिला-लेखन के महत्त्व को तथ्यों और तर्कों के साथ पुष्ट किया गया है। महिला-लेखन की अवधारणा के विकास में ऐसे लेखों का महत्त्वपूर्ण योगदान बन जाता है। आज करीब साठ-पैंसठ वर्षों के बाद भी हिन्दी में इस विषय पर कोई महत्त्वपूर्ण किताब नहीं आ पायी है।

इस तरह 1936 ई० में प्रकाशित होने वाली हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं में स्त्री-जीवन के प्रति प्रगतिशील रुझान दिखाई पड़ता है। पुरुषवादी वर्चस्व को चुनौतियाँ दी गई हैं और स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व की माँग उठती-सी दिखाई पड़ती है। राजनीतिक अधिकारों के प्रति जागरूकता है तो मज़दूर स्त्रियों के स्त्री होने के कारण स्त्रियोचित अधिकारों की माँग दिखाई पड़ती है। विवाह-जैसी सामाजिक संस्था के प्रति संदेह और असंतोष स्पष्ट तौर पर दिखाई पड़ने लगा था। स्त्रीवादी बहसों में बड़ी संख्या में स्त्रियाँ प्रत्यक्षत: भाग ले रही थीं। स्त्रीवादी पुरुष लेखकों की संख्या भी बढ़ रही थी, जो पुरुषवादी वर्चस्व का विरोध कर रहे थे।

'**चातुर्वर्ण्य क्या आदर्श व्यवस्था है?**' (विश्वमित्र, जुलाई 1936) में **श्री संतराम** ने सटीक तर्कों के द्वारा चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की समीक्षा की है। बराबरी के लिए संघर्ष करने वाले साम्यवादी और समाजवादी नेताओं की सवर्णवादी दृष्टि पर क्षुब्ध होकर वे लिखते हैं, "**बड़े-बड़े देशभक्त और बड़े-बड़े साम्यवादी हिन्दू नेता वर्ण-व्यवस्था का विध्वंस देखना सहन नहीं कर सकते।.....सवर्ण हिन्दुओं को जन्म से ऊँचाई का पट्टा मिला हुआ है, इसलिए वे शूद्र के कष्टों का अनुभव नहीं कर सकते। हाँ, धनी-निर्धन की विषमता उन्हें भी तकलीफ देती है, इसलिए वे सम्पत्ति के एक समान बँटवारे का प्रचार करते हैं।.....खेद है कि भारत में आज तक जितने बड़े-बड़े सुधारक हुए हैं, वे प्राय: सवर्ण हिन्दुओं से ही पैदा हुए हैं, इसलिए उन्हें चातुर्वर्ण्य से होने वाली घोर हानि का यथार्थ रूप से अनुभव नहीं हुआ, नहीं तो वे बाकी सब बातों को छोड़कर इसी की जड़ पर कुठाराघात करते।**"[32]

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं ने अस्पृश्यता के खिलाफ साफ मन से काम नहीं किया। उन्होंने इसे अपनी समस्या समझकर आंदोलन छेड़ने की कोशिश ही नहीं की। बीच-बीच में आर्यसमाज जैसी संस्थाएँ वर्णाश्रम के औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास भी करती रहीं। उन्होंने सिद्ध करना चाहा कि वर्णाश्रम एक आदर्श व्यवस्था है और पूरे समाज का हित इसमें छिपा हुआ है। श्री संतराम ने ऐसे तर्कों का जवाब देते हुए लिखा है, "**चातुर्वर्ण्य-विभाग किसी समाज के लिए ईश्वर का वरदान है या अभिशाप, इससे समाज में शान्ति और संगठन रह सकता है या यह अशांति और विद्वेष का मूल कारण है, इसका जितना अच्छा उत्तर अछूतों के मान्य**

नेता विद्वद्वर डॉक्टर भीमराव रामजी अम्बेडकर एम० ए०, डी० एस० सी०, पी० एच० डी०, बार-एट-ला, प्रिन्सिपल ला कॉलेज, बम्बई दे सकते हैं, उतना कोई दूसरा सवर्ण हिन्दू नहीं। कारण यह है कि वे भुक्तभोगी हैं। चातुर्वर्ण्य का जितना कटु अनुभव उनको है, उतना श्री मालवीय या श्री जवाहरलाल जी को नहीं हो सकता।''[33]

हिन्दी पत्रकारिता देश के भीतर की सामाजिक समस्या वर्णाश्रम से वैचारिक स्तर पर जूझ रही थी। दूसरी तरफ, विश्व के तमाम देशों के बीच व्यापारिक साम्राज्यवाद के तनावों के कारण उत्पन्न युद्ध की स्थिति का भी जायजा हिन्दी की पत्रिकाएँ ले रही थीं। पहले महायुद्ध की भयावहता से परिचित दुनिया दूसरे महायुद्ध की ओर बढ़ रही थी। **'संसार युद्ध की ओर'** (चाँद : जून 1936 ई०) शीर्षक लेख में श्रीपति सहाय ने इंग्लैण्ड, इटली, जर्मनी, जापान आदि की सामारिक तैयारियों की चर्चा की है और बताया है कि अगला विश्वयुद्ध टाला नहीं जा सकता। दुनिया के शक्तिशाली देश शांति की बजाय माहौल को तनावपूर्ण और युद्धोन्मुख बनाने में लगे हुए हैं। राष्ट्रसंघ विश्वशांति के अपने उद्देश्य में असफल हो चुका हैं। एशिया और अफ्रीका के देश साम्राज्यवादियों के आधिपत्य से पीड़ित हो रहे हैं। रूस और अमेरिका नई शक्तियों के रूप में उभर रहे हैं। सारा संसार भावी युद्ध की आशंका से काँप रहा है। 1936 ई० की हिन्दी पत्रकारिता 1939 ई० में शुरु होने वाले दूसरे महायुद्ध की पगध्वनि को तीन साल पहले से ही सुन रही थी, ".....**अब पूर्वीय संसार में भी युद्ध छिड़ने में देरी नहीं। उधर पश्चिम में भी हम यह सुनने के लिए तैयार बैठे हैं कि जर्मनी और फ्रांस के बीच लड़ाई शुरु हो गई। लेकिन इस समय केवल जर्मनी-फ्रांस या जापान-रूस की ही तैयारी नहीं है। आज संसार युद्ध के लिए जिस तेज़ी से तैयारी कर रहा है वैसा पहले कभी नहीं हुआ था।**''[34]

हिन्दी पत्रकारिता साहित्य की समस्याओं से जुड़कर संवाद स्थापित करने का प्रयास कर रही थी। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के 25 वें अधिवेशन के सभापति डॉ० **राजेन्द्र प्रसाद** ने नागपुर में भाषण करते हुए राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर प्रकाश डाला और हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में पेश किया। **'विश्वमित्र'**, मई 1936 ई० ने **'साहित्य जगत्'** स्तंभ में सभापति के वक्तव्य को प्रकाशित किया, "**राष्ट्रभाषा से यह अभिप्राय है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और सार्वजनिक व्यवहार में सभी प्रांतों के रहने वालों द्वारा बरती जाय और कन्याकुमारी से बदरिकाश्रम तक और अटक से कटक तक सभी जगहों में एक दूसरे के साथ बातें करने और विचार-विनिमय में काम में लायी जाए। अनेकानेक भेद-प्रभेद होते हुए भी हिन्दी इन शर्तों को पूरा करती है।**''[35] इस बहस में **नेहरूजी** के विचारों को भी शामिल किया गया है और इस तरह हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिलाने में राजनीतिकों की सहमति को पाठकों के सामने पेश किया गया है।

अज्ञेय का विचार है कि राष्ट्रभाषा एक राजनीतिक प्रश्न है, साहित्यिक मंच पर राष्ट्रभाषा से जुड़ी बहस सार्थक नतीजे पर नहीं पहुँच सकती। **'सम्मेलन में क्या देखा, सुना और सोचा'** (विशाल भारत, जून 1936) में **अज्ञेय** ने उपर्युक्त सम्मेलन को राजनीतिक बतलाया है। उनका विचार है कि राष्ट्रभाषा के बारे में काँग्रेस अपने मंच से विचार करे और हिन्दी साहित्य की प्रगति को ऐसे मामलों में न फँसाया जाए। **अज्ञेय** को अफसोस था कि हिन्दू महासभा और हिंदूवादी साहित्यकारों के दबाव के कारण **भूषण** के **'शिवाबावनी'** पर स्वस्थ बहस नहीं

हो सकी। वे साहित्य में सांप्रदायिक हस्तक्षेप को अनावश्यक और खतरनाक मान रहे थे।

साम्प्रदायिकता की तरह रीतिवादी दृष्टिकोण भी साहित्य के लिए ख़तरनाक है। रीतिवाद का कड़ा विरोध हिन्दी में हो रहा था, फिर भी पुरातनपंथियों का एक बड़ा तबका अभी भी रीतिवाद की वासनात्मक शृंगारिकता का कायल था। 'विश्वमित्र' (अक्टूबर 1936 ई०) ने 'साहित्य जगत्' स्तम्भ में 'हिन्दी-साहित्य की विचारधारा' पर विचार करते हुए पाया कि शृंगार के नाम पर कामलोलुप कवियों ने हिन्दी कविता का बड़ा नुकसान पहुँचाया है। पद्माकर, मतिराम और केशव की चर्चा के बाद लेखक ने लिखा है, "इन महापुरुषों के अतिरिक्त ब्रजभाषा के अनगिनत कवि ऐसे हो गये हैं, जिन्होंने मनुष्य के अंगों की बैलों से, घड़ों से, बेलों और नगाड़ों से तुलना करके अपनी पथभ्रष्ट बुद्धि से उन्हें बिल्कुल ही जड़वत् बना डाला। बात खलेगी, ब्रजभाषा के हिमायतियों को, परंतु सच्ची बात है कि यह ब्रजभाषा में आज जो कुछ भी है, उसका अधिकांश है कविताबद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ।"[36] हिन्दी को कोरी भावुकता ने बाँध रखा है। कवियों की संख्या गद्य लेखकों से ज़्यादा है, "हिन्दी-साहित्य अभी भी रूढ़ियों को लेकर चल रहा है। समाज को छोड़कर मानवता को अपनाने में वह आज तक समर्थ नहीं हो सका। विश्व-साहित्य की विचारधारा की तुलना में हम कहाँ हैं? और हों भी कैसे? हिन्दी-साहित्यिकों का बौद्धिक विकास हुआ ही नहीं। बुरा न समझा जाय, पर हमारे कितने कवि-और दुर्भाग्यवश हिन्दी में न जाने कवि ही क्यों अधिक पैदा होते हैं-वास्तव में अध्ययनशील हैं? वे वास्तविकता से दूर भागते हैं, पर जीवित तो रहेगा वह जो वास्तविकता और कल्पना के समन्वय के आधार पर खड़ा होगा, अन्यथा जिस तरह वैज्ञानिक कोकशास्त्रों के बन जाने से ब्रजभाषा के नायिका भेदों के ग्रन्थ निकम्मे हो गए, उसी तरह अपने साहित्य सहित उन्हें भी मिटते देर न लगेगी, यह निश्चित है।"[37]

मतलब, हिन्दी के साहित्यकारों को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से जुड़ना चाहिए। महज भावुकता के आधार पर की गयी रचना मज़बूत नहीं हो सकती। अपने आप में यह बहस का विषय हो सकता है कि रचनाकार से किस तरह के ज्ञान की अपेक्षा समाज कर सकता है। संवेदना, सहज बोध क्षमता के होते हुए भी व्यावहारिक ज्ञान का होना, रचनाकार के लिए, नितांत जरूरी है। 'गोर्की की व्यावहारिक साहित्यिकता' (विश्वमित्र: अगस्त 1936 ई०) में श्री जगदीश नारायण ने रूसी भाषा के महान् उपन्यासकार मैक्सिम गोर्की के लेखन और जीवन-शैली में समानता की तरफ साहित्य-संसार का ध्यान खींचते हुए मानो इस बहस को नये आयाम दिए हैं कि साहित्यकार और उसकी रचना में तालमेल होना चाहिए। गोर्की ने न केवल रूसी क्रांति को अपनी रचनाओं का विषय बनाया, अपितु वे रूसी क्रांति से सक्रिय रूप से जुड़े भी रहे, "जिसे रूस के इतिहास का वह परिच्छेद, जिसमें सन् 1905 के प्रसिद्ध 22 जून वाले 'खूनी रविवार' की चर्चा है, याद है, वह गोर्की की व्यावहारिक साहित्यिकता भूल नहीं सकता। याद कीजिए उस घड़ी को, जब एक ओर मज़दूरों और किसानों का विराट् जुलूस 'विण्टर-पैलेस' की ओर तेज़ी से बढ़ रहा था; उनके हाथों में लाल झण्डियों के अलावा अपनी माँगों की लंबी फिहरिश्तें भी फहरा रही थीं; जो जोश में बेहोश हो रहे थे और दूसरी ओर क्रोध में पागल जार की फौज कतारों से संगीन ताने उनका इन्तिजार कर रही थी। आखिर, जो होना था वही हुआ। लेकिन गोर्की ने एक अवश्यम्भावी अनिवार्य हत्यकाण्ड को रोक रखने के लिए क्या उठा रखा? कितनी विकट कठिनाइयों

का सामना करता हुआ मिनिस्टरो से मिला; उनसे मिन्नतें की। उन्हें गदर की आशंका बतायी-न्याय की गुहार की। हालाँकि यह सब व्यर्थ हुआ; उसकी आँखों के सामने ही वह रोमाञ्चकारी हत्याकाण्ड होकर ही रहा; फिर भी गोर्की ने उस मौके से कम लाभ नहीं उठाया। उस हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में उसने ऐसा साहित्य तैयार किया, जो क्रांति की सफलता का प्रधान कारण हुआ और जिसके चलते गोर्की को कठोर कारावास का दण्ड मिला। तब से विद्रोहात्मक साहित्य का उत्पादन ही उसका पेशा रहा और निर्वासन उसका पुरस्कार।''[38]

'विशाल भारत' के फरवरी-मार्च 1936 ई० के दो अंकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का एक लेख 'वर्तमान हिन्दी-कविता' दो खंडों में क्रमश: छपा। इस लेख में द्विवेदी जी ने कुछ कविता-संग्रहों की समीक्षा की है। अपने समकालीन रचनाकारों के मूल्याकन में द्विवेदी जी की कुशलता और सफलता देखने योग्य हैं। द्विवेदी जी की ये *स्थापना*एँ आज भी सही हैं। **रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा** और **दिनकर** की कविताओं पर उनकी टिप्पणियाँ स्पष्ट आलोचनात्मक दृष्टि का प्रमाण हैं। 'नीरजा' की समीक्षा के क्रम में वे महादेवी वर्मा के बारे में सटीक टिप्पणी करते हैं, ''महादेवी जी अनुभूति से ही शुरू करती हैं और अनुभूति से ही प्राय: अंत करती हैं। यह और भी स्वाभाविक है, इसलिए उनका कहना हृदयहारी होता है,.....चिन्तन से अनुभूति की ओर जाना कविजनोचित कार्य है.....अनुभूति से चिन्तन में जाना कवि-कर्म का परिपन्थी है, -महादेवी जी अपने को चिन्तन के प्रलोभन से बचा नहीं सकतीं..... ।''[39]

डॉ० रामकुमार वर्मा के कविता-कर्म की तीखी आलोचना द्विवेदीजी ने 'चित्ररेखा' काव्य-संग्रह के माध्यम से की है। 'विशाल भारत' के जनवरी 1936 ई० (अर्थात् ठीक एक अंक पहले) के अंक में 'चित्ररेखा' की प्रशस्ति किन्हीं **प्रो० सरस्वती प्रसाद** ने गायी थी। प्रो० सरस्वती प्रसाद ने किन्हीं **श्रीसूर्यकांत शास्त्री**, एम० ए०, एम० ओ० एल० के उद्धरण देकर **रामकुमार वर्मा** की प्रशंसा करने का प्रयास किया है, जो हास्यास्पद बन गया है, ''कुमार की कविता विषाद के कंकाल को स्मृति की मरुस्थली में नंगा नचा देती है। वह हृदय के टूटे तारों को खींचने में अत्यंत पटु है।.....कुमार की यह निराशा हृदय-सुमन को चाटे डालती है।''[40] द्विवेदीजी ने 'चित्ररेखा' की कविताओं की समीक्षा करते हुए **रामकुमार वर्मा** की कड़ी निन्दा की है। वे उनकी अनुभूति को नकली और अभिव्यक्ति को पांडित्य से आक्रांत बताते है, ''वे प्राय: अपनी कल्पना को अनुभूति का रूप देने की चेष्ट करते हैं। उनकी अनुभूति प्राय: उनके पांडित्य के गोरखधंधे में अपनी राह भूल जाती है।''[41] आगे लिखते हैं, 'नीरजा' की अस्पष्टता कवि के बेसुधपन के कारण है, और 'चित्ररेखा' की अस्पष्टता अतिरिक्त आत्म-चैतन्य के कारण हैं।''[42]

रामधारी सिंह 'दिनकर' के काव्य-संग्रह 'रेणुका' के बारे में द्विवेदीजी उपर्युक्त लेख में लिखते हुए कवि की सीमाओं को इन शब्दों में रेखांकित करते हैं, 'रेणुका' का कवि जवान है। उसे न तो चिन्तन करने की फुरसत है और न अनुभव प्राप्त करने का अवसर।.....'रेणुका' का कवि हमारी उन सभी चोटों से फायदा उठाता है, जिन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हमारा हृदय सह चुका है। वह कृषकों के नाम पर रुलाता है, वैशाली और नालंदा के नाम पर हमें उत्तेजित करता है, मिथिला और दिल्ली के नाम पर हमें 'अपना' बना लेता है। यही

उसकी विशेषता है, यही
उसकी दुर्बलता है।''[43]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह समीक्षात्मक लेख प्रमाणहै कि हिन्दी की पत्रिकाओं में समकालीन रचनाओं को पैनी दृष्टि से देखने की जागरूकता थी। मज़बूत और कमज़ोर रचनाओं को ये पत्रिकाएँ अलग-अलग रेखांकित कर रही थीं।

'विशाल भारत' मार्च 1936 ई० के अंक में 'वर्तमान हिन्दी कविता' का दूसरा भाग छपा। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसमें दिखाया है कि आधुनिक युग का साहित्य जनसाधारण की भावनाओं और जीवन से जुड़ा है। व्यक्ति की नितांत एकांत भावना और दृष्टि का अब महत्त्व नहीं रहा; समुदाय, समाज और संगठन महत्त्वपूर्ण हो गए हैं, **''प्राचीन मनुष्य की सारी साधना एकांत और निर्जन स्थानों में होती थी; परंतु आधुनिक युग के मनुष्य के लिए एकांत ही सबसे बड़ा बोझ है। हम हर्ष मनाते हैं सभा करके; शोक मनाते है सभा करके; किसी बात का विरोध करते हैं सभा करके; धर्म की रक्षा करते हैं सभा करके, पूजा भी करते हैं सभा करके। हमें ज्ञान मिलता है पब्लिक अख़बारों से, शिक्षा मिलती है पब्लिक स्कूलों से, अध्ययन मिलता है पब्लिक लाइब्रेरियों से, उत्तेजना मिलती है पब्लिक मीटिंगों से, सम्मान मिलता है पब्लिक सम्मेलनोंसे, दवा मिलती है पब्लिक अस्पतालों से–आधुनिक काल शुरू से अख़ीर तक भीड़-भभ्भड़ का युग है।''**[44]

'विशाल भारत' अप्रैल 1936 ई० के अंक में प्रकाशित **'हमारे राष्ट्रीय कवि'** शीर्षक लेख में स्वतंत्रता आंदोलन और देशभक्ति के भारतीय कवियों की संक्षिप्त चर्चा की गई है। इस लेख के लेखक का नाम प्रकाशित नहीं किया गया है, शायद विदेशी अंग्रेज़ी सरकार के दमन के भय से। इस लेख में कई भारतीय भाषाओं के कवियों को एक साथ विश्लेषित करके राष्ट्रीय आन्दोलन के अखिल भारतीय स्वरूप को उजागर किया गया है। हिन्दी के कवियों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, गया प्रसाद शुक्ल सनेही 'त्रिशूल' माधव शुक्ल, प्रोफेसर मनोरंजन (भोजपुरी) की चर्चा की गयी है। बँगला के बंकिमचंद्र चंद्र चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ, रंगलाल बंदोपाध्याय, द्विजेन्द्रलाल राय, नजरुल इस्लाम आदि की चर्चा है। 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' के रचयिता श्यामलाल गुप्त को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है। उर्दू में राष्ट्रीय कविताओं को आरम्भ मुहम्मद हुसेन आज़ाद और हाली से माना गया है। इस तरह मराठी के विनायक जनार्दन करन्दीकर, गुजराती के नर्मदाशंकर लाल शंकर और अर्देशर खबरदार, पंजाबी के भाई वीरसिंह और श्रीमेलाराम वफा, तमिल के सुब्रह्मण्य भारती की राष्ट्रीय कविताओं की प्रशंसा की गयी है।

1936 की आलोचनात्मक चेतना का अगर हम स्वरूपनिर्धारण करें, तो पाएँगे कि वह जनोन्मुख और यथार्थोन्मुख है तथा उसके तेवर आंदोलनात्मक हैं।

युगबोध के निर्माण में गाँधीवाद तथा मार्क्सवाद की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। मार्क्सवाद ने यथार्थचेतना को जगाया, तो गाँधीवाद ने स्वतंत्रता आंदोलन की उर्जा नई पीढ़ी में भर दी। स्वतंत्रता आंदोलन ने न केवल राजनीतिक, बल्कि दूसरी तरह की आज़ादी के लिए भी चेतना पैदा की। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान स्त्री, दलित, मज़दूर, किसान, अल्पसंख्यक आदि विभिन्न वर्गों के बीच मुक्ति की आकांक्षा पैदा हुई और उन्होंने आंदोलनात्मक

स्तर पर भी बंधनों को काटने का प्रयास किया।

1936 के दृष्टिकोण में पराधीनता की पीड़ा तो है, पर उससे मुक्त होने का अदम्य आत्मविश्वास और प्रयास भी है। इस दौर की चेतना में निराशा बहुत कम है, उसमें निराशा को दूर करने करने की आशा और विजय की पूरी उम्मीद भरी हुई है। 1936 की रचनाशीलता की जीवनदृष्टि उत्साह, आवेग, आशा और मुक्ति की आकांक्षा से भरी हुई तथा यथार्थ-बोध से परिपूर्ण है।

संदर्भ

1. प्रेमचंद – महाजनी सभ्यता, पृ० 5-6
2. वही, पृ० 5
3. 'विशाल भारत' मासिक-जून 1936 पृ० 721
4. वही
5. वही
6. वही
7. वही
8. 'विश्वमित्र' मासिक – जून 1936 पृ० 250
9. 'विश्वमित्र' मासिक – मई 1936 पृ० 138
10. 'विशाल भारत' मासिक – अप्रैल 1936 पृ० 416
11. वही, पृ० 423
12. वही
13. वही
14. वही
15. 'विशाल भारत' मासिक – जून 1936 पृ० 727
16. 'चाँद' मासिक – मई 1936 पृ० 102
17. वही, 103
18. महादेवी वर्मा – शृंखला की कड़ियाँ, पृ० 7
19. वही,
20. वही, पृ० 20
21. वही, पृ० 78-79
22. वही, पृ० 100
23. 'चाँद' मासिक – जुलाई 1936 पृ० 262
24. वही
25. वही, पृ० 263
26. वही
27. वही, पृ० 264
28. 'सुधा', मासिक – जनवरी 1936 पृ० 627

29. 'चाँद' मासिक – अक्टूबर 1936 पृ० 563

30. वही, 543

31. 'चाँद' मासिक – जुलाई 1936, पृ० 254

32. 'विश्वमित्र' मासिक – जुलाई 1936 पृ० 408

33. वही,

34. 'चाँद' मासिक – जून 1936 पृ० 124

35. 'विश्वमित्र' मासिक – मई 1936 पृ० 229

36. 'विश्वमित्र' मासिक – अक्टूबर 1936 पृ० 111

37. वही

38. 'विश्वमित्र' मासिक – अगस्त 1936 पृ० 530

39. 'विशाल भारत' मासिक– फरवरी 1936 पृ० 139

40. 'विशाल भारत' मासिक – जनवरी 1936 पृ० 157

41. 'विशाल भारत' मासिक – फरवरी 1936 पृ० 140

42. वही, पृ० 141

43. वही

44. 'विशाल भारत', मासिक – मार्च 1936 पृ० 310

उपसंहार

और अंत में.....

1936 का हिन्दी साहित्य वैविध्यपूर्ण है। छायावाद का अंतिम वर्ष होते हुए भी अनेक श्रेष्ठ छायावादी रचनाओं का प्रकाशन-वर्ष यही है। प्रगतिवाद की शुरुआत ने हिन्दी की यथार्थवादी परंपरा को विकसित होने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया। **प्रेमचंद** की कथा-यात्रा अपनी श्रेष्ठ रचनाओं के साथ इसी वर्ष समाप्त हुई

1936 में अखिल भारतीय साहित्य की अवधारणा पर्याप्त ढाँचा ग्रहण कर चुकी थी। भक्ति आंदोलन के बाद पहली बार साहित्य की अखिल भारतीय संस्कृति का विकास प्रगतिशील आंदोलन में हुआ। इस वर्ष की पत्रिकाओं में भारतीय भाषाओं की अनूदित कृतियों की भरमार है। कोशिश की गई है कि भारत की छोटी-बड़ी अधिकतर भाषाओं के साहित्य को हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया जाए। कोंकणी की कविता '**घराची आठव** !' (हंस: मार्च 1936) अनूदित होकर हिन्दी में छपी। कोंकणी-जैसी छोटी भाषा को भी अखिल भारतीय साहित्य की अवधारणा के विकास में महत्त्व दिया जा रहा था। अखिल भारतीय साहित्य की अवधारणा को हिन्दी भाषा तथा साहित्य पर लागू करने का प्रयास लेखकों और संपादकों ने बखूबी किया। हिन्दी के सौन्दर्य-बोध को पूरे भारत की संवेदना से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण प्रयास 1936 की रचनाओं में मिलता है।

विभिन्न भाषाओं की एकता का प्रश्न समाज और संस्कृति से जुड़ जाता है। हिन्दी-उर्दू की एकता का संबंध हिन्दी क्षेत्र के हिन्दू-मुस्लिम समाज से है। **प्रेमचंद** ने हिन्दी-उर्दू को मिलाकर एक ऐसी भाषा-शैली तैयार की जिसे समझने में कोई परेशानी न हो। **प्रेमचंद** ने जनसाधारण की भाषा को साहित्यिक भाषा का दर्जा दिलाया और साहित्य की भाषा को जनसाधारण की भाषा में ढाला। जनसाधारण की भाषा और साहित्यिक भाषा का सुंदर संतुलन **प्रेमचंद** की भाषा में है।

प्रेमचंद के समानांतर छायावादी कविताओं का भी युग चल रहा था, पर वहाँ की भाषा-नीति कुछ और ही थी। छायावादी कविता ने हिन्दू-उर्दू की एकता को नुकसान पहुँचाया। यह एकता छायावादी कवियों की चिंता का विषय है ही नहीं। छायावाद ने ऐसी काव्यभाषा विकसित की; जिसमें तमाम विशेषताओं के बावजूद, उपर्युक्त एकता की कमी मौजूद है। प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को नई काव्यभाषा दी, जिसमें जनसाधारण की भाषा और साहित्यिक भाषा की दूरी कम हो गयी। इस तरह, 1936 में हिन्दी कविता की भाषा जनता के बीच तक पहुँचने का प्रयास करने लगी।

1936 ने लेखकों की एक ऐसी लंबी परम्परा को जन्म दिया, जिसने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक

प्रश्नों से साहित्य को जोड़ा। ऐसे लेखकों के चिंतन को निर्मित करने में समाजवादी विचारधारा का विशेष योगदान रहा। मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, फणीश्वरनाथ 'रेणु' आदि की रचनाएँ 1936 में निर्मित हो रही साहित्य की संस्कृति की विकास-यात्रा के ही मील-स्तंभ हैं।

1936 के हिन्दी साहित्य में यथार्थवादी चेतना का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। लेखकों ने साहित्य और समाज को करीब लाने का प्रयास किया, परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य की जनोन्मुखता बढ़ी।

सहायक पुस्तकें

लेखक		पुस्तक
1. अमृतराय	–	प्रेमचंद : कलम का सिपाही हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986
2. डॉ० इंद्रनाथ मदान	–	प्रेमचंद : एक विवेचन राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989
	–	(संपादित) गोदान : मूल्यांकन और मूल्यांकन नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद, 1990
3. ई० एच० कार	–	इतिहास क्या है? दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 1979
4. ए० बी० वर्धन	–	भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में मज़दूर वर्ग की भूमिका कम्युनिस्ट पार्टी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997
5. डॉ० कुमार विमल	–	महादेवी का काव्य-सौष्ठव अनुपम प्रकाशन, पटना, 1983
6. डॉ० कृष्णचंद्र वर्मा	–	छायावादी काव्य मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972
7. डॉ० कृष्णलाल 'हंस'	–	प्रगतिवादी काव्य-साहित्य मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1971
8. गजानन माधव मुक्तिबोध	–	मुक्तिबोध रचनावली, भाग-चार सं० नेमिचन्द्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1985
9. डॉ० गोपाल राय	–	गोदान: नया परिप्रेक्ष्य अनुपम प्रकाशन, पटना, 1993
10. जयशंकर प्रसाद	–	कामायनी, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 1999
	–	प्रसाद ग्रंथावली (प्रसाद वाङ्मय, खंड-4) सं०-रत्नशंकर प्रसाद

लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986

11. जवाहरलाल नेहरू – मेरी कहानी
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

12. डॉ० देवराज – छायावाद : उत्थान, पतन, पुनर्मूल्यांकन
कल्पकार प्रकाशन, लखनऊ, 1975

13. संपाकद–डॉ० धीरेन्द्र वर्मा – हिन्दी साहित्य-तृतीय खंड
भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, 1969
– हिन्दी साहित्य कोष, भाग-1
ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, 1985
– वही, भाग-2, 1986

14. डॉ० नंदकिशोर नवल – निराला और मुक्तिबोध : चार लंबी कविताएँ
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

15. नंददुलारे वाजपेयी – हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995
– कवि निराला
वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, 1965

16. डॉ० नगेन्द्र – सुमित्रनंदन पंत
साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा, संवत् 2014

17. सं०-डॉ० नगेन्द्र – हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, दशम भाग,
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2028 विक्रम
– हिन्दी साहित्य का इतिहास
मयूर पेपरबैक्स, नोएडा (उ० प्र०), 1992

18. डॉ० नामवर सिंह – छायावाद,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991
– वाद विवाद संवाद
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1991

19.डॉ० निर्मला जैन – हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, द्वादश भाग

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2040 विक्रम

20. नेमिचंद्र जैन – अधूरे साक्षात्कार
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1989

21. प्रकाशचंद्र गुप्त – नया हिन्दी साहित्य : एक भूमिका
सरस्वती प्रेस, बनारस, 1953

22. प्रेमचंद – विविध प्रसंग : प्रेमचंद, भाग-2
सं० - अमृतराय, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1962
– वही, भाग-3, 1962
– मंगल सूत्र (प्रेमचंद रचनावली, खंड : छः)
जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1996
महाजनी सभ्यता
प्रेमचंद साहित्य संस्थान, गोरखपुर, 2000
– गोदान
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995
– कर्मभूमि
सरस्वती प्रेस, दिल्ली : इलाहाबाद, 1991
– प्रेमाश्रम
हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997
– साहित्य का उद्देश्य
एस० के० पब्लिशर्ज, नई दिल्ली, 1991
– प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ, भाग - 1
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1997
– वही, भाग-2, 1997

23. डॉ० प्रेमशंकर – प्रसाद का काव्य
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
– हिन्दी स्वच्छंदतावादी काव्य
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1974

24. डॉ० बच्चन सिंह – हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

25. डॉ० बिपिन चन्द्र – भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, 1996
– आधुनिक भारत
NCERT, नई दिल्ली, 1995

26. भुवनेश्वर प्रसाद – कारवाँ तथा अन्य एकांकी
लोकभारती प्रकाशन, इलाबाद, 1971

27. मदन गोपाल – कलम का मज़दूर : प्रेमचंद
राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1965

28. एम० एन० श्रीनिवास – आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998

29. मन्मथनाथ गुप्त – प्रगतिवाद की रूपरेखा
आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1952

30. महादेवी वर्मा – यामा
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
– सांध्यगीत
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995
– श्रृंखला की कड़ियाँ
राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1997

31. डॉ० मैनेजर पाण्डेय – साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1989
– शब्द और कर्म
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1997
– साहित्य और इतिहास-दृष्टि
पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, 1981

32. आचार्य रामचंद्र शुक्ल – हिन्दी साहित्य का इतिहास
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2047 विक्रम

33. रामदरश मिश्र – हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्र
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995

34. डॉ० रामविलास शर्मा
- निराला की साहित्य-साधना, भाग-1
  राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979
- निराला की साहित्य-साधना, भाग-2
  राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
- मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य
  वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994
- परंपरा का मूल्यांकन
  राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1995
- आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना
  राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1993
- आस्था और सौंदर्य
  राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1990
- भारत में अंग्रेज़ी राज और मार्क्सवाद, खंड-2
  राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993
- प्रेमचंद और उनका युग
  राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

35. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी
- हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास
  लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1991
- कामायनी का पुनमूल्यांकन
  लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993
- इतिहास और आलोचक-दृष्टि
  लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982

36. रेखा अवस्थी
- प्रगतिवाद और समानांतर साहित्य
  दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 1978

37. विश्वम्भर 'मानव'
- महादेवी की रहस्य-साधना
  किताब महल, इलाहाबाद, 1977

38. डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी
- हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास,
  NCERT , नई दिल्ली, 1997

39. सं०-डॉ० वेद प्रताप वैदिक – हिन्दी पत्रकारिता : विविध आयाम, भाग-एक
हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, 1997

40. शांति जोशी – सुमित्रनंदन पंत : जीवन और साहित्य, प्रथम खण्ड
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1970

41. सं० सत्येन्द्र – प्रेमचंद
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1989

42. सं० - डॉ० सावित्री सिनहा – हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, एकादश भाग
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् 2029 विक्रम

43. सुमित सरकार – आधुनिक भारत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1999

44. सुमित्रनंदन पंत – सुमित्रनंदन पंत ग्रंथावली, खंड-2
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1993

– साठ वर्ष और अन्य निबंध
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1973

45. सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' – निराला रचनावली, खंड-एक
सं० - डॉ० नंदकिशोर नवल
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992

– वही, खंड-3, 1992

46. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी – हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990

47. त्रिलोकी नारायण दीखित – प्रेमचंद,
साहित्य निकेतन, कानपुर, 1952

48. WOMEN WRITING IN INDIA – VOLUME II, EDITED BY - SUSIE THARU & K. LALITA, OXFORD UNIVERSITY PRESS, NEW DELHI, 1995

पत्रिकाएँ

1. चाँद (मासिक), मई, 1936 ई०, इलाहाबाद, सं०-नंदकिशोर तिवारी।
   चाँद (मासिक), जून, 1936 ई०, इलाहाबाद, सं०-नंदकिशोर तिवारी।
   चाँद (मासिक), जुलाई, 1936 ई०, इलाहाबाद, सं०-नंदकिशोर तिवारी।
   चाँद (मासिक), अगस्त, 1936 ई०, इलाहाबाद, सं०-नंदकिशोर तिवारी।
   चाँद (मासिक), सितम्बर, 1936 ई०, इलाहाबाद, सं०-नंदकिशोर तिवारी।
   चाँद (मासिक), अक्टूबर, 1936 ई०, इलाहाबाद, सं०-नंदकिशोर तिवारी।
2. तद्भव, अंक-3, अप्रैल, 2000 लखनऊ, सं० अखिलेश
3. परिषद् पत्रिका (शोध त्रैमासिक, 113-114), प्रसाद-जन्मशती-विशेषांक, फरवरी 1990, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित। सं० शिववंश पाण्डेय।
4. माधुरी (मासिक), जनवरी, 1936 ई० लखनऊ, सं० - रूपनारायण पांडेय, बाँकेबिहारी भटनागर।
5. वर्तमान साहित्य, शताब्दी कथा विशेषांक, जनवरी-फरवरी 2000, संयोजक-संपादक-असगर वजाहत, गाजियाबाद (उ० प्र०)
6. विशाल भारत, जनवरी, 1936 ई०, कलकत्ता, सं०-बनारसीदास चतुर्वेदी।
   विशाल भारत, फरवरी, 1936 ई०, कलकत्ता, सं०-बनारसीदास चतुर्वेदी।
   विशाल भारत, मार्च, 1936 ई०, कलकत्ता, सं०-बनारसीदास चतुर्वेदी।
   विशाल भारत, अप्रैल, 1936 ई०, कलकत्ता, सं०-बनारसीदास चतुर्वेदी।
   विशाल भारत, मई, 1936 ई०, कलकत्ता, सं०-बनारसीदास चतुर्वेदी।
   विशाल भारत, जून, 1936 ई०, कलकत्ता, सं०-बनारसीदास चतुर्वेदी।
7. विश्वमित्र, अप्रैल, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'
   विश्वमित्र, मई, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'
   विश्वमित्र, जून, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'
   विश्वमित्र, जुलाई, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'
   विश्वमित्र, अगस्त, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'
   विश्वमित्र, सितम्बर, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'
   विश्वमित्र, अक्टूबर, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'

विश्वमित्र, नवम्बर, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'

विश्वमित्र, दिसम्बर, 1936 ई०, कलकत्ता, सं० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, शिवदेव उपाध्याय 'सतीश'

8. सरस्वती, जनवरी, 1937, इलाहाबाद, सं० देवीदत्त शुक्ल, श्रीनाथ सिंह।

9. सुधा (मासिक), सितम्बर, 1935, ई० लखनऊ, सं० दुलारेलाल भार्गव।

सुधा (मासिक), अक्टूबर, 1935, ई० लखनऊ, सं० दुलारेलाल भार्गव।

सुधा (मासिक), नवम्बर, 1935, ई० लखनऊ, सं० दुलारेलाल भार्गव।

सुधा (मासिक), जनवरी, 1936, ई० लखनऊ, सं० दुलारेलाल भार्गव।

10. हंस (मासिक), जनवरी, 1936 ई० बनारस, सं० प्रेमचंद।

हंस (मासिक), फरवरी, 1936 ई० बनारस, सं० प्रेमचंद।

हंस (मासिक), मार्च, 1936 ई० बनारस, सं० प्रेमचंद।